गोस्वामी तुलसीदास

लेखक

रामचंद्र शुक्ल

काशी-नागरीप्रचारिणी सभा की ओर से

प्रकाशक

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग

संशोधित संस्करण] १९३५ [मूल्य १।)

संशोधित संस्करण

का

वक्तव्य

इस पुस्तक के प्रथम संस्करण में गोस्वामीजी का जीवन-चरित भी गौण रूप में सम्मिलित था। पर जीवनवृत्त-संग्रह इस पुस्तक का उद्देश्य न होने से इस संस्करण से 'जीवन-खंड' निकाल दिया गया है। अब पुस्तक अपने विशुद्ध आलोचनात्मक रूप में पाठकों के सामने रखी जाती है। जैसा कि प्रथम संस्करण के वक्तव्य में निवेदन किया जा चुका है, इसे गोस्वामीजी के महत्त्व के साक्षात्कार और उनकी विशेषताओं के प्रदर्शन का लघु प्रयत्न मात्र समझना चाहिए। इस प्रयत्न में कहाँ तक सफलता हुई है, इसका निर्णय तो गोस्वामीजी की कृतियों से परिचित और प्रभावित सहृदय-समाज ही कर सकता है।

तुलसी की भक्ति-पद्धति और काव्य-पद्धति को थोड़ा और स्पष्ट करने के लिये कुछ प्रकरण और प्रसंग बढ़ा दिए गए हैं। आशा है, इस वर्त्तमान रूप में यह पुस्तक पाठकों की रुचि के अनुकूल होगी।

रामनवमी
संवत् १९९० — रामचंद्र शुक्ल

विषय-सूची

विषय			पृष्ठ
तुलसी की भक्ति-पद्धति	...	...	१
प्रकृति और स्वभाव	...	..	१५
लोक-धर्म	..	...	२३
धर्म और जातीयता का समन्वय	...	...	४०
मंगलाशा	...	...	४२
लोक-नीति और मर्यादावाद	...	..	४४
शील-साधना और भक्ति	...	...	५६
ज्ञान और भक्ति	...	...	७०
तुलसी की काव्य-पद्धति	...	...	७५
तुलसी की भावुकता	...	...	८८
शील-निरूपण और चरित्र-चित्रण	..	...	१२४
बाह्य-दृश्य-चित्रण	...	...	१५०
अलंकार-विधान	...	...	१६१
उक्ति-वैचित्र्य	...	...	१८१
भाषा पर अधिकार	...	...	१८४
कुछ खटकनेवाली बातें	...	...	१८८
हिंदी-साहित्य में गोस्वामीजी का स्थान		...	१९०

गोस्वामी

तुलसीदास

तुलसी की भक्ति-पद्धति

हम्मीर के समय से चारणों का वीरगाथा-काल समाप्त होते ही हिंदी-कविता का प्रवाह राजकीय क्षेत्र से हटकर भक्तिपथ और प्रेम-पथ की ओर चल पड़ा। देश में मुसलमान साम्राज्य के पूर्णतया प्रतिष्ठित हो जाने पर वीरोत्साह के सम्यक् संचार के लिये वह स्वतंत्र क्षेत्र न रह गया; देश का ध्यान अपने पुरुषार्थ और बल-पराक्रम की ओर से हटकर भगवान् की शक्ति और दया-दाक्षिण्य की ओर गया। देश का वह नैराश्य-काल था जिसमें भगवान् के सिवा और कोई सहारा नहीं दिखाई देता था। रामानंद और वल्लभाचार्य ने जिस भक्तिरस का प्रभूत संचय किया, कबीर और सूर आदि की वाग्धारा ने उसका संचार जनता के बीच किया। साथ ही कुतबन्, जायसी आदि मुसलमान कवियों ने अपनी प्रबंध-रचना द्वारा प्रेमपथ की मनोहरता दिखाकर लोगों को लुभाया। इस भक्ति और प्रेम के रंग में देश ने अपना दुःख भुलाया, उसका मन बहला।

भक्तों के भी दो वर्ग थे। एक तो भक्ति के प्राचीन भारतीय स्वरूप को लेकर चला था; अर्थात् प्राचीन भागवत-संप्रदाय के नवीन विकास का ही अनुयायी था और दूसरा विदेशी परंपरा का अनुयायी, लोकधर्म से उदासीन तथा समाज-व्यवस्था और ज्ञान-

विज्ञान का विरोधी था*। यह द्वितीय वर्ग जिस घोर नैराश्य की विषम स्थिति में उत्पन्न हुआ, उसी के सामंजस्य-साधन में संतुष्ट रहा। उसे भक्ति का उतना ही अंश ग्रहण करने का साहस हुआ जितने की मुसलमानों के यहाँ भी जगह थी। मुसलमानों के बीच रहकर इस वर्ग के महात्माओं का भगवान् के उस रूप पर जनता की भक्ति को ले जाने का उत्साह न हुआ, जो अत्याचारियों का दमन करनेवाला और दुष्टों का विनाश कर धर्म को स्थापित करनेवाला है। इससे उन्हें भारतीय भक्तिमार्ग के विरुद्ध ईश्वर के सगुण रूप के स्थान पर निर्गुण रूप ग्रहण करना पड़ा, जिसे भक्ति का विषय बनाने में उन्हें बड़ी कठिनता हुई।

प्रथम वर्ग के प्राचीन परंपरावाले भक्त वेद-शास्त्रज्ञ तत्त्वदर्शी आचार्यों द्वारा प्रवर्तित संप्रदायों के अनुयायी थे। उनकी भक्ति का आधार भगवान् का लोक-धर्म-रक्षक और लोकरंजक स्वरूप था। इस भक्ति का स्वरूप नैराश्यमय नहीं है; इसमें उस शक्ति का बीज है जो किसी जाति को फिर उठाकर खड़ा कर सकता है। सूर और तुलसी ने इसी भक्ति के सुधारस से सींचकर मुरझाते हुए हिंदू-जीवन को फिर से हरा किया। पहले भगवान् का हँसता-खेलता रूप दिखाकर सूरदास ने हिंदू जाति की नैराश्यजनित खिन्नता हटाई जिससे जीवन में प्रफुल्लता आ गई। पीछे तुलसीदासजी ने भगवान् का लोक-व्यापार-व्यापी मंगलमय रूप दिखाकर आशा और शक्ति का अपूर्व संचार किया। अब हिंदू जाति निराश नहीं है।

घोर नैराश्य के समय हिंदू जाति ने जिस भक्ति का आश्रय लिया, उसी की शक्ति से उसकी रक्षा हुई। भक्ति के सच्चे उद्गार ने

* योरप में ईसाई धर्म के भक्त उपदेशकों द्वारा ज्ञान-विज्ञान की उन्नति के मार्ग में किस प्रकार बाधा पड़ती रही है, यह वहाँ का इतिहास जाननेवाले मात्र जानते हैं।

ही हमारी भाषा को प्रौढ़ता प्रदान की और मानव-जीवन की सरसता दिखाई। इस भक्ति के विकास के साथ ही साथ इसकी अभिव्यंजना करनेवाली वाणी का विकास भी स्वाभाविक था। अतः सूर और तुलसी के समय हिंदी कविता की जो समृद्धि दिखाई देती है, उसका कारण शाही दरबार की कद्रदानी नहीं है, बल्कि शाही दरबार की कद्रदानी का कारण वह समृद्धि है। उस समृद्धि-काल के कारण हैं सूर-तुलसी; और सूर-तुलसी का उत्पादक है इस भक्ति का क्रमशः विकास जिसके अवलंबन थे राम और कृष्ण। लोक-मानस के समक्ष राम और कृष्ण जब से फिर से स्पष्ट करके रखे गए, तभी से वह उनके एक एक स्वरूप का साक्षात्कार करता हुआ उसकी व्यंजना में लग गया। यहाँ तक कि सूरदास तक आते आते भगवान् की लोकरंजन-कारिणी प्रफुल्लता की पूर्ण व्यंजना हो गई। अंत में उनकी अखिल जीवन-वृत्ति-व्यापिनी कला को अभिव्यक्त करनेवाली वाणी का मनोहर स्फुरण तुलसी के रूप में हुआ।

इस दिव्यवाणी का यह मंजु घोष घर घर क्या, एक एक हिंदू के हृदय तक पहुँच गया कि भगवान् दूर नहीं हैं, तुम्हारे जीवन में मिले हुए हैं। यही वाणी हिंदू जाति को नया जीवनदान दे सकती थी। उस समय यह कहना कि ईश्वर सब से दूर है, निर्गुण है, निरंजन है, साधारण जनता को और भी नैराश्य के गड्ढे में ढकेलता। ईश्वर बिना पैर के चल सकता है, बिना हाथ के मार सकता है और सहारा दे सकता है, इतना और जोड़ने से भी मनुष्य की वासना को पूरा आधार नहीं मिल सकता। जब भगवान् मनुष्य के पैरों से दीन-दुखियों की पुकार पर दौड़कर आते दिखाई दें और उनका हाथ मनुष्य के हाथ के रूप में दुष्टों का दमन करता और पीड़ितों को सहारा देता दिखाई दे, उनकी आँखें मनुष्य की आँखें होकर आँसू गिराती दिखाई दें, तभी मनुष्य के भावों की पूर्ण तृप्ति हो सकती

है और लोक-धर्म का स्वरूप प्रत्यक्ष हो सकता है। इस भावना का हिंदू हृदय से बहिष्कार नहीं हो सकता। जहाँ हमें दिन दिन बढ़ता हुआ अत्याचार दिखाई पड़ा कि हम उस समय की प्रतीक्षा करने लगेंगे जब वह "रावणत्व" की सीमा पर पहुँचेगा और "रामत्व" का आविर्भाव होगा। तुलसी के मानस से रामचरित की जो शील-शक्ति-सौंदर्यमयी स्वच्छ धारा निकली, उसने जीवन की प्रत्येक स्थिति के भीतर पहुँचकर भगवान् के स्वरूप का प्रतिबिंब झलका दिया। रामचरित की इसी जीवन-व्यापकता ने तुलसी की वाणी को राजा, रंक, धनी, दरिद्र, मूर्ख, पंडित सब के हृदय और कंठ में सब दिन के लिये बसा दिया। किसी श्रेणी का हिंदू हो, वह अपने प्रत्येक जीवन में राम को साथ पाता है—संपत्ति में, विपत्ति में, घर में, वन में, रणक्षेत्र में, आनंदोत्सव में जहाँ देखिए, वहाँ राम। गोस्वामीजी ने उत्तरापथ के समस्त हिंदू जीवन को राममय कर दिया। गोस्वामीजी के वचनों में हृदय को स्पर्श करने की जो शक्ति है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। उनकी वाणी के प्रभाव से आज भी हिंदू भक्त अवसर के अनुसार सौंदर्य पर मुग्ध होता है, महत्त्व पर श्रद्धा करता है, शील की ओर प्रवृत्त होता है, सन्मार्ग पर पैर रखता है, विपत्ति में धैर्य धारण करता है, कठिन कर्म में उत्साहित होता है, दया से आर्द्र होता है, बुराई पर ग्लानि करता है, शिष्टता का अवलंबन करता है और मानव-जीवन के महत्त्व का अनुभव करता है।

जिस विदेशी परंपरा की भक्ति का उल्लेख ऊपर हुआ है उसके कारण विशुद्ध भारतीय भक्ति-मार्ग का स्वरूप बहुत कुछ आच्छन्न हो चला था। गोस्वामीजी की सूक्ष्म दृष्टि किस प्रकार इस बात पर पड़ी यह आगे दिखाया जायगा। भारतीय भक्ति-मार्ग और विदेशी भक्ति-मार्ग में जो स्वरूप-भेद है उसका संक्षेप में निरूपण हम यहाँ पर कर देना चाहते हैं।

हमारे यहाँ ज्ञानमार्ग, भक्तिमार्ग और योगमार्ग तीनों अलग अलग रहे हैं। ज्ञानमार्ग शुद्ध बुद्धि की स्वाभाविक क्रिया अर्थात् चिंतन-पद्धति का आश्रय लेता है, भक्ति-मार्ग शुद्ध हृदय की स्वाभाविक अनुभूतियों अर्थात् भावों को लेकर चलता है; योगमार्ग चित्त की वृत्तियों को अनेक प्रकार के अभ्यासों द्वारा अस्वाभाविक (abnormal) बनाकर अनेक प्रकार की अलौकिक सिद्धियों के बीच होता हुआ अंतःस्थ ईश्वर तक पहुँचना चाहता है। इस स्पष्ट विभाग के कारण भारतीय परंपरा का भक्त न तो पारमार्थिक ज्ञान का दावा करता है, न अलौकिक सिद्धि या रहस्य-दर्शन का। तत्त्वज्ञान के अधिकारी तर्कबुद्धि-संपन्न चिंतनशील दार्शनिक ही माने जाते थे। सूर और तुलसी के संबंध में यह अवश्य कहा जाता है कि उन्होंने भगवान् के दर्शन पाए थे* पर यह कोई नहीं कहता कि शंकराचार्य्य और रामानुज भी ज्ञान की जिस सीमा तक नहीं पहुँचे थे उस सीमा तक वे पहुँचे थे। भारतीय पद्धति का भक्त यदि झूठा दावा कर सकता है तो यही कि मैं भगवान् के ही प्रेम में मग्न रहता हूँ; यह नहीं कि जो बात कोई नहीं जानता वह मैं जाने बैठा हूँ। प्रेम के इस झूठे दावे से, इस प्रकार के पाषंड से, अज्ञान के अनिष्ट प्रचार की आशंका नहीं।

भारतीय भक्त का प्रेम-मार्ग स्वाभाविक और सीधा-सादा है जिस पर चलना सब जानते हैं, चाहे चलें न। वह ऐसा नहीं जिसे कोई बिरला ही जानता हो या पा सकता हो। वह तो संसार में सबके लिये ऐसा ही सुलभ है जैसे अन्न और जल—

---

* यह जनश्रुति है कि तुलसीदासजी को चित्रकूट में राम की एक झलक जंगल के बीच में मिली थी। इसका कुछ संकेत सा विनयपत्रिका के इस पद में मिलता है—"तुलसी तो को कृपाल जो कियो कोसलपाल चित्रकूट को चरित्र चेतु चित करि सो।"

निगम अगम, साहब सुगम, राम साँचिली चाह।
अंबु असन अवलोकियत सुलभ सबै जग माँह॥

सरलता इस मार्ग का नित्य लक्षण है—मन की सरलता, वचन की सरलता और कर्म की सरलता—

सूधे मन, सूधे बचन, सूधी सब करतूति।
तुलसी सूधी सकल बिधि रघुबर-प्रेम-प्रसूति॥

भारतीय परंपरा के भक्त में दुराव, छिपाव की प्रवृत्ति नहीं होती। उसे यह प्रकट करना नहीं रहता कि जो बातें मैं जानता हूँ उन्हें कोई बिरला ही समझ सकता है, इससे अपनी वाणी को अटपटी और रहस्यमयी बनाने की आवश्यकता उसे कभी नहीं होती। वह सीधी-सादी सामान्य बात को भी रूपकों में लपेटकर पहेली बनाने और असंबद्धता के साथ कहने नहीं जाता। बात यह है कि वह अपना प्रेम किसी अज्ञात के प्रति नहीं बताता। उसका उपास्य ज्ञात होता है। उसके निकट ईश्वर ज्ञात और अज्ञात दोनों है। जितना अज्ञात है उसे तो वह परमार्थान्वेषी दार्शनिकों के चिंतन के लिये छोड़ देता है और जितना ज्ञात है उसी को लेकर वह प्रेम में लीन रहता है। तुलसी कहते हैं कि जिसे हम जानेंगे, वही हमें जानेगा—

जाने जानत, जोइए, बिनु जाने को जान ?

पर पाश्चात्य दृष्टि में भक्ति-मार्ग 'रहस्यवाद' के अंतर्गत ही दिखाई पड़ता है। बात यह है कि पैगंबरी (यहूदी, ईसाई, इसलाम) मतों में धर्म-व्यवस्था के भीतर तत्त्वचिंतन या ज्ञानकांड के लिये स्थान न होने के कारण आध्यात्मिक ज्ञानोपलब्धि रहस्यात्मक ढंग से (स्वप्न, संदेश, छायादर्शन आदि के द्वारा) ही माननी पड़ती थी। पहुँचे हुए भक्तों और संतों (Saints) के संबंध में लोगों की यह धारणा थी कि जब वे आवेश की दशा में मूर्च्छित या बाह्यज्ञानशून्य होते हैं तब भीतर ही भीतर उनका 'ईश्वर के साथ

संयोग' होता है और वे छायारूप में बहुत सी बातें देखते हैं। ईसाई धर्म में जब स्थूल एकेश्वरवाद (जो वास्तव में देववाद ही है) के स्थान पर प्राचीन आर्य दार्शनिकों द्वारा प्रतिपादित 'सर्ववाद' (Pantheism) लेने की आवश्यकता हुई तब वह बुद्धि द्वारा प्रस्तुत ज्ञान के रूप में तो लिया नहीं जा सकता था, ईश्वर द्वारा रहस्यात्मक ढंग से प्रेषित ज्ञान के रूप में ही लिया जा सकता था। इससे परमात्मा और जीवात्मा के संबंध की वे ही बातें, जो यूनान या भारत के प्राचीन दार्शनिक कह गए थे, विलक्षण रूपकों द्वारा कुछ दुर्बोध और अस्पष्ट बनाकर संत लोग कहा करते थे। अस्पष्टता और असंबद्धता इसलिये आवश्यक थी कि तथ्यों का साक्षात्कार छाया-रूप में ही माना जाता था। इस प्रकार अरब, फारस तथा योरप में भावात्मक और ज्ञानात्मक रहस्यवाद का चलन हुआ।

भारत में धर्म के भीतर भी ज्ञान की प्रकृत पद्धति और प्रेम की प्रकृत पद्धति स्वीकृत थी अत: भावात्मक और ज्ञानात्मक रहस्यवाद की कोई आवश्यकता न हुई। साधनात्मक और क्रियात्मक रहस्य-वाद का अलबत योग, तंत्र और रसायन के रूप में विकास हुआ। इसके विकास में बौद्धों ने बहुत कुछ योग दिया था। हठयोग की परंपरा बौद्धों की ही थी। मत्स्येंद्रनाथ के शिष्य गोरखनाथ ने उसे शैव रूप दिया। गोरखपंथ का प्रचार राजपूताने की ओर अधिक हुआ इसी से उस पंथ के ग्रंथ राजस्थानी भाषा में लिखे गए हैं। मुसल-मानी शासन के प्रारंभ-काल में इसी पंथ के साधु उत्तरीय भारत में अधिक घूमते दिखाई देते थे जिनकी रहस्यभरी बातें हिंदू और मुसलमान दोनों सुनते थे। मुसलमान अधिकतर खड़ी बोली बोलते थे इससे इस पंथ के रमते साधु राजस्थानी मिली खड़ी बोली का व्यवहार करने लगे। इस प्रकार एक सामान्य सधुक्कड़ी भाषा बनी जिसका व्यवहार कबीर, दादू आदि निर्गुणी संतों ने किया।

अरब और फारस का भावात्मक रहस्यवाद लेकर जब सूफी हिंदुस्तान में आए तब उन्हें यही रहस्योन्मुख संप्रदाय मिला। इसी से उन्होंने हठयोग की बातों का बड़ी उत्कंठा के साथ अपने संप्रदाय में समावेश किया। जायसी आदि सूफी कवियों की पुस्तकों में योग और रसायन की बहुत सी बातें बिखरी मिलती हैं। रहस्यवादी सूफियों के प्रेम-तत्त्व के साथ वेदांत के ज्ञानमार्ग की कुछ बातें जोड़कर जो निर्गुण-पंथ चला उसमें भी "इला, पिंगला सुषमन नारी" की बराबर चर्चा रही।

सूफ़ियों ने हठयोगियों की जिन बातों को अपने मेल में देखा वे ये थीं—

१—रहस्य की प्रवृत्ति।

२—ईश्वर को केवल मन के भीतर समझना और ढूँढ़ना।

३—बाहरी पूजा और उपासना का त्याग।

ये तीनों बातें भारतीय भक्ति-मार्ग से मेल खानेवाली नहीं थीं। जैसा कि ऊपर दिखा आए हैं, भारतीय भक्ति-पद्धति 'रहस्य' की प्रवृत्ति को भक्ति की सच्ची भावना में बाधक समझती है। भारतीय परंपरा का भक्त अपने उपास्य को बाहर लोक के बीच प्रतिष्ठित करके देखता है, अपने हृदय के कोने में नहीं। वह ध्यान भी करता है तो जगत् के बीच अपनी प्रत्यक्ष कला का प्रकाश करते हुए व्यक्त ईश्वर का। तुलसी का वन के बीच राम का दर्शन करना प्रसिद्ध है, हृदय के भीतर नहीं।

इसी प्रकार भक्ति-भावना में लीन होने पर वह सब कुछ 'राममय' देखता है और अपने से बाहर सब की पूजा करना चाहता है। हठयोगियों की बातें भक्ति की सच्ची भावना में किस प्रकार बाधा पहुँचानेवाली थीं इस बात को लोकदर्शी गोस्वामीजी की सूक्ष्म दृष्टि पहचान गई। उनके समय में गोरखपंथी साधु योग की रहस्यमयी

बातों का जो प्रचार कर रहे थे उसके कारण उन्हें जनता के हृदय से भक्ति-भावना भागती दिखाई पड़ी—

> गोरख जगायो जोग, भगति भगायो लोग,
> निगम नियोग ते, सो केलि ही छरो सो है।

"ईश्वर को मन के भीतर ढूँढ़ो" इस वाक्य ने भी पाषंड का बड़ा चौड़ा रास्ता खोला है। जो अपने को ज्ञानी प्रकट करना चाहते हैं वे प्रायः कहा करते हैं कि "ईश्वर को अपने भीतर देखो।" गोस्वामीजी ललकारकर कहते हैं कि भीतर ही क्यों देखें, बाहर क्यों न देखें—

> अंतर्जामिहु तें बड़ बाहरजामी हैं राम जो नाम लिए तें।
> पैज परे प्रह्लादहु को प्रगटे प्रभु पाहन तें, न हिए तें॥

गोस्वामीजी का पक्ष है कि यदि मनुष्य के छोटे से अंतःकरण के भीतर ईश्वर दिखाई भी पड़े तो भी अखिल विश्व के बीच अपनी विभूतियों से भासित होनेवाला ईश्वर उससे कहीं पूर्ण और कल्याण-कारी है। हमारी बद्ध और संकुचित आत्मा केवल द्रष्टा हो सकती है, दृश्य नहीं। अतः यदि परमात्मा को, भगवान् को, देखना है तो उन्हें व्यक्त जगत् के संबंध से देखना चाहिए। इस मध्यस्थ के बिना आत्मा और परमात्मा का संबंध व्यक्त ही नहीं हो सकता। दूसरी बात यह है कि भारतीय भक्ति-मार्ग व्यक्ति-कल्याण और लोक-कल्याण दोनों के लिये है। वह लोक या जगत् को छोड़कर नहीं चल सकता। भक्ति-मार्ग का सिद्धांत है भगवान् को बाहर जगत् में देखना। 'मन के भीतर देखना' यह योगमार्ग का सिद्धांत है, भक्ति-मार्ग का नहीं। इस बात को सदा ध्यान में रखना चाहिए।

भक्ति रागात्मिका वृत्ति है, हृदय का एक भाव है। प्रेम-भाव उसी स्वरूप और उसी गुण-समूह पर टिक सकता है जो दृश्य जगत् में हमें आकर्षित करता है। इसी जगत् के बीच भासित

होता हुआ स्वरूप ही प्रेम या भक्ति का आलंबन हो सकता है। इस जगत् से सर्वथा असंबद्ध किसी अव्यक्त सत्ता से प्रेम करना मनोविज्ञान के अनुसार सर्वथा असंभव है। भक्ति केवल ज्ञाता या द्रष्टा के रूप में ही ईश्वर की भावना लेकर संतुष्ट नहीं हो सकती। वह ज्ञातृपक्ष और ज्ञेयपक्ष दोनों को लेकर चलती है।

बौद्धों की महायान शाखा का एक और अवशिष्ट "अलखिया संप्रदाय" के नाम से उड़ीसा तथा उत्तरीय भारत के अनेक भागों में घूमता दिखाई पड़ता था*। यह भी महायान शाखा के बौद्धों के समान अंतःकरण के मन, बुद्धि, विवेक, हेतु और चैतन्य ये पाँच भेद बतलाता था और शून्य का ध्यान करने को कहता था। इस संप्रदाय का "विष्णुगर्भपुराण" नामक एक ग्रंथ उड़िया भाषा में है जिसका संपादन प्रो० आर्त्तवल्लभ महंती ने किया है। उन्होंने इसका रचना-काल सन् १५५० ई० के पहले स्थिर किया है। इस पुस्तक के अनुसार विश्व में चारों ओर 'अलख' ही का प्रकाश हो रहा है। अलख ही विष्णु है जिससे निराकार की उत्पत्ति हुई। सारी सृष्टि अलख के गर्भ में रहती है। अलख अज्ञेय है। चारों वेद उसके संबंध में कुछ भी नहीं जानते। अलख से प्रादुर्भूत निराकार तुरीयावस्था में रहता है और उसी दशा में उससे ज्योति की उत्पत्ति होती है। यह सृष्टि-तत्त्व बौद्धों की महायान शाखा का है। 'अलख' संप्रदाय के साधु अपने को बड़े भारी रहस्यदर्शी योगी और 'अलख' को लखनेवाले प्रकट किया करते थे। ऐसा ही एक साधु गोस्वामीजी के सामने आकर 'अलख', 'अलख' करने लगा। इस पर उन्होंने उसे इस प्रकार फटकारा—

> हम लखि, लखहि हमार, लखि हम हमार के बीच।
> तुलसी अलखहि का लखै रामनाम जपु नीच॥

---

* अब भी इस संप्रदाय के साधु दिखाई पड़ते हैं।

हम अपने साथ जगत् का जो संबंध अनुभव करते हैं उसी के मूल में भगवान् की सत्ता हमें देखनी चाहिए। "जासों सब नातो फुरै" उसी को हमें पहचानना चाहिए। जगत् के साथ हमारे जितने संबंध हैं सब राम के संबंध से हैं—

'नाते सबै राम के मनियत सुहृद सुसेव्य जहाँ लौं'।

माता-पिता जिस स्नेह से हमारा लालन-पालन करते हैं, भाई-बन्धु, इष्ट-मित्र जिस स्नेह से हमारा हित करते हैं, उसे राम ही का स्नेह समझना चाहिए।

जिन जिन वृत्तियों से लोक की रक्षा और रंजन होता है उन सब का समाहार अपनी परमावस्था को पहुँचा हुआ जहाँ दिखाई पड़े, वहाँ भगवान् की उतनी कला का पूर्ण प्रकाश समझकर जितनी से मनुष्य को प्रयोजन है—अनंत पुरुषोत्तम को उतनी मर्यादा के भीतर देखकर जितनी से लोक का परिचालन होता है—सिर झुकाना मनुष्य होने का परिचय देना है, पूरी आदमियत का दावा करना है। इस व्यवहार-क्षेत्र से परे, नामरूप से परे जो ईश्वरत्व या ब्रह्मत्व है वह प्रेम या भक्ति का विषय नहीं, वह चिंतन का विषय है। वह इस प्रकार लक्षित नहीं कि हमारे भावों का, हमारी मनोवृत्तियों का परम लक्ष्य हो सके। अतः अलक्ष्य का बहाना करके जितना लक्ष्य है उसकी ओर भी ध्यान न देना धर्म से भागना है।

गोस्वामीजी पूरे लोकदर्शी थे। लोक-धर्म पर आघात करनेवाली जिन बातों का प्रचार उनके समय में दिखाई पड़ा उनकी सूक्ष्म दृष्टि उन पर पूर्ण रूप से पड़ी। कबीर आदि द्वारा प्रवर्त्तित निर्गुण पंथ की लोक-धर्म से विमुख करनेवाली वाणी का किस खरेपन के साथ उन्होंने विरोध किया इसका वर्णन "लोक-धर्म" के अंतर्गत किया जायगा।

भक्ति में बड़ी भारी शर्त है निष्कामता की। सच्ची भक्ति में लेन-देन का भाव नहीं होता। भक्ति के बदले में उत्तम गति मिलेगी,

इस भावना को लेकर भक्ति हो ही नहीं सकती। भक्त के लिये भक्ति का आनंद ही उसका फल है। वह शक्ति, सौंदर्य और शील के अनंत समुद्र के तट पर खड़ा होकर लहरें लेने में ही जीवन का परम फल मानता है। तुलसी इसी प्रकार के भक्त थे। कहते हैं कि वे एक बार वृंदावन गए थे। वहाँ किसी कृष्णोपासक ने उन्हें छेड़कर कहा—"आपके राम तो बारह कला के ही अवतार हैं। आप श्रीकृष्ण की भक्ति क्यों नहीं करते जो सोलह कला के अवतार हैं?" गोस्वामीजी बड़े भोलेपन के साथ बोले—"हमारे राम अवतार भी हैं, यह हमें आज मालूम हुआ।" राम विष्णु के अवतार हैं इससे उत्तम फल या उत्तम गति दे सकते हैं, बुद्धि के इस निर्णय पर तुलसी राम से भक्ति करने लगे हों, यह बात नहीं है। राम तुलसी को अच्छे लगते हैं, उनके प्रेम का यदि कोई कारण है तो यही है। इसी भाव को उन्होंने इस दोहे में व्यंजित किया है—

> जौ जगदीस तौ अति भलो, जौ महीस तौ भाग।
> तुलसी चाहत जनम भरि राम-चरन-अनुराग॥

तुलसी को राम का लोक-रंजक रूप वैसा ही प्रिय लगता है जैसा चातक को मेघ का लोक-सुखदायी रूप।

अब तक जो कुछ कहा गया है उससे यह सिद्ध है कि शुद्ध भारतीय भक्ति-मार्ग का 'रहस्यवाद' से कोई संबंध नहीं। तुलसी पूर्ण रूप में इसी भारतीय भक्ति-मार्ग के अनुयायी थे अत: उनकी रचना को रहस्यवाद कहना हिंदुस्तान को अरब या विलायत कहना है। कृष्णभक्ति-शाखा का स्वरूप आगे चलकर अवश्य ऐसा हुआ जिसमें कहीं कहीं रहस्यवाद की गुंजाइश हुई। अपने मूल रूप में भागवत संप्रदाय भी विशुद्ध रहा। श्रीकृष्ण का लोक-रक्षक और लोक-रंजक रूप गीता में और भागवत पुराण में स्फुरित है। पर धीरे धीरे वह स्वरूप आवृत होता गया और प्रेम का आलं-

बन मधुर रूप ही शेष रह गया। वल्लभाचार्य्यजी ने स्पष्ट शब्दों में उनका लोकसंग्रही रूप हटाया। उन्होंने लोक और वेद दोनों की मर्य्यादा का अतिक्रमण अपने संप्रदाय में आवश्यक ठहराया; लोक को परे फेंकने से कृष्णभक्ति व्यक्तिगत एकांत प्रेम-साधना के रूप में ही रह गई। इतना होने पर भी सूरदास, नंददास आदि महाकवियों ने कृष्ण को इसी जगत् के बीच—वृंदावन में—रखकर देखा। उन्होंने रहस्यवाद का रंग अपनी कविता पर नहीं चढ़ाया।

मुसलमानी अमलदारी में सूफी पीरों और फकीरों का पूरा दौरदौरा रहा। लोक-संग्रह का भाव लिए रहने के कारण रामभक्ति-शाखा पर तो उनका असर न पड़ा। पर, जैसा कि कह आए हैं, कृष्णभक्ति-शाखा लोक को परे फेंककर व्यक्तिगत एकांत साधना का रंग पकड़ चुकी थी। इससे उसके कई प्रसिद्ध भक्तों पर सूफियों का पूरा प्रभाव पड़ा। चैतन्य महाप्रभु में सूफियों की प्रवृत्तियाँ स्पष्ट लक्षित होती हैं। जैसे सूफी कव्वाल गाते गाते 'हाल' की दशा में हो जाते हैं वैसे ही महाप्रभुजी की मंडली भी नाचते नाचते मूर्च्छित हो जाती थी। यह मूर्च्छा रहस्य-संक्रमण का एक लक्षण है। इसी प्रकार मीराबाई भी 'लोकलाज खोकर' अपने प्रियतम कृष्ण के प्रेम में मतवाली और विरह में व्याकुल रहा करती थीं। नागरीदासजी भी इश्क का प्याला पीकर इसी प्रकार झूमा करते थे। यहीं तक नहीं, माधुर्यभाव की उपासना लेकर कई प्रकार के सखी-संप्रदाय भी चले जिनमें समय समय पर प्रियतम के साथ संयोग हुआ करता है। एक कृष्णोपासक संप्रदाय स्वामी प्राणनाथजी ने चलाया जो न तो द्वारका, वृदावन आदि तीर्थों को कोई महत्त्व देता है और न मंदिरों में श्रीकृष्ण की मूर्तियों का दर्शन करने जाता है। वह इस वृंदावन और इसमें विहार करनेवाले कृष्ण को गोलोक की नित्य-लीला की एक छाया मात्र मानता है।

जिस प्रकार मद, प्याला, मूर्च्छा और उन्माद सूफो रहस्य-वादियों का एक लक्षण है उसी प्रकार प्रियतम ईश्वर के विरह की बहुत बढ़ी-चढ़ी भाषा में व्यंजना करना भी सूफी कवियों की एक रूढ़ि है। यह रूढ़ि भारतीय भक्त कवियों के विनय में न पाई जायगी। भारतीय भक्त तो अपनी व्यक्तिगत सत्ता के बाहर सर्वत्र भगवान् का नित्य-लीला-क्षेत्र देखता है। उसके लिये विरह कैसा ?

अपनी भक्ति-पद्धति के भीतर गोस्वामीजी ने किस प्रकार शील और सदाचार को भी एक आवश्यक अंग के रूप में लिया है, यह बात "शील-साधना और भक्ति" के अंतर्गत दिखाई जायगी।

प्रकृति और स्वभाव

हिंदी के राजाश्रित कवि प्राय. अपना और अपने आश्रयदाताओं का कुछ परिचय अपनी पुस्तकों में दे दिया करते थे। पर भक्त कवि इसकी आवश्यकता नहीं समझते थे। तुलसीदासजी ने भी अपना कुछ वृत्तांत कहीं नहीं लिखा। अपने जीवनवृत्त का जो किंचित् आभास उन्होंने कवितावली और विनय-पत्रिका में दिया है वह केवल अपनी दीनता दिखाने के लिये। किसी किसी ग्रंथ का समय भी उन्होंने लिख दिया है। उनके जीवन-वृत्त के संबंध में लोगों की जिज्ञासा यों ही रह जाती है। दूसरे ग्रंथों और कुछ किंवदंतियों से जो कुछ पता चलता है उसी पर संतोष करना पड़ता है। उनके जीवन-वृत्त-संबंधी दो ग्रंथ कहे जाते हैं—(१) बाबा बेनीमाधवदास का 'गोसाईं-चरित', (२) रघुबरदासजी का 'तुलसी-चरित'। पहला ग्रंथ—अथवा उसका संक्षिप्त रूप—नवलकिशोर प्रेस से प्रकाशित 'रामचरित-मानस' के एक संस्करण के साथ छप चुका है। पर उसमें लिखी अधिकतर बातें निश्चित ऐतिहासिक तथ्यों के विरुद्ध पड़ती हैं। दूसरा ग्रंथ कहीं पूरा प्रकाशित नहीं हुआ है। हमारी समझ में ये दोनों पुस्तकें गोस्वामीजी के बहुत पीछे श्रुति-परंपरा के आधार पर लिखी गई हैं। इनमें सत्य का कुछ अंश मात्र कल्पित बातों के बीच छिपा हुआ माना जा सकता है। अत: गोस्वामीजी की प्रकृति का परिचय प्राप्त करने के लिये हमें उनके वचनों का ही सहारा लेना पड़ता है।

उनकी भक्ति के स्वरूप का जो थोड़ा आभास ऊपर दिया गया है उससे स्पष्ट है कि वह भक्ति केवल व्यक्तिगत एकांत साधना के रूप में नहीं है; व्यवहार-क्षेत्र के भीतर लोक-मंगल की प्रेरणा करनेवाली है। अत: उसमें ऐसे ही उपास्य की भावना हो सकती है जो व्याव-

हारिक दृष्टि में लोक-रक्षा और लोक-रंजन करता दिखाई पड़े अर्थात् जो उच्च और धर्ममय हो। इसी उच्च की ओर उठकर जब हृदय उमंग से भरता है तब उसमें दिव्यकला का प्रकाश होता है—

उरवी परि कल-हीन होइ, ऊपर कला-प्रधान।
तुलसी देखु कलाप-गति, साधन घन पहिचान॥

जब तक मोर की पूँछ के पंख जमीन पर लुढ़ते चलते हैं तब तक वे कलाहीन रहते हैं पर जब लोक-रक्षक और लोक-रंजक मेघ को देख मयूर उमंग से भर जाता है और पंख ऊपर उठ जाते हैं तब वे कलापूर्ण होकर जगमगा उठते हैं। जिस उपासना में उपास्य का स्वरूप मेघ के आदर्श तक पहुँचा हुआ न होगा उसके प्रति तुलसी की सहानुभूति न होगी। इस प्रकार उनकी उपासना-संबंधिनी उदारता की एक हद हो जाती है। भूत-प्रेत पूजनेवालों के प्रति उनका यह उदार भाव नहीं था कि जो अपनी विद्या-बुद्धि के अनुसार परोक्ष शक्ति की जिस रूप में भावना कर सकता है उसका उसी रूप में उपासना करना ठीक है—वह उपासना तो करता है। भूत-प्रेत पूजनेवालों की गति तो वे वैसी ही बुरी बताते हैं, जैसी किसी दुष्कर्म से होती है—

जे परिहरि हरि-हर-चरन भजहिं भूतगन घोर।
तिन्हकै गति मोहिं देउ बिधि जो जननी-मत मोर॥

फिर भी उनकी यह अनुदारता उस कट्टरपन के दरजे को नहीं पहुँची है जिसके जोश में अँगरेज कवि मिल्टन ने प्राचीन सभ्य जातियों के उपास्य देवताओं को जबरदस्ती खींचकर शैतान की फौज में भरती किया है—उस कट्टरपन के दरजे को नहीं पहुँची है जो दूसरे धर्मों की उपासना-पद्धति (जैसे, मूर्ति-पूजा) को गुनाहों की फिहरिस्त में दर्ज करती है। गोस्वामीजी का विरोध तो इस सिद्धांत पर है कि जो जिसकी उपासना करता है, उसका आचरण भी उसी के अनुरूप रहता है।

जिस भक्ति-पद्धति में लोक-धर्म की उपेक्षा हो, जिसके भीतर समाज के श्रद्धापात्रों के प्रति द्वेष छिपा हो, उसकी निंदा करने में भी उन्होंने संकोच नहीं किया है।

'विश्वास' के संबंध में भी उनकी प्रायः वही धारणा समझिए जो उपासना के संबंध में है। यदि विश्वास का आलंबन वैसा श्रेष्ठ और सात्त्विक नहीं है तो उसे वे 'अंध-विश्वास' मानते हैं—

लही आँखि कब आँधरे, बांझ पूत कब पाय।
कब कोढ़ी काया लही, जग बहराइच जाय॥

तुलसी के ऐसे पहुँचे हुए भक्त के दैन्य और विनय के विषय में तो कहना ही क्या है? सारी विनय-पत्रिका इन दोनों भावों के अपूर्व उद्गारों से भरी हुई है। 'रामचरित-मानस' ऐसा अमर कीर्त्ति-स्तंभ खड़ा करते समय भी उनका ध्यान अपनी लघुता पर से न हटा। वे यही कहते रहे—

कबि न होउँ, नहिं चतुर प्रबीना। सकल कला सब बिद्या-हीना
कबित बिबेक एक नहिं मोरे। सत्य कहौं लिखि कागद कोरे॥
बंचक भगत कहाइ राम के। किंकर कंचन कोह काम के॥
तिन्ह महँ प्रथम रेख जग मोरी। धिग धर्मध्वज धँधरक धोरी॥
जौं अपने अवगुन सब कहऊँ। बाढ़इ कथा पार नहिं लहऊँ॥

पर यह भी समझ रखना चाहिए कि 'लघुत्व' की यह परमानुभूति परम महत्त्व के साक्षात्कार के कारण थी। अतः लोक-व्यवहार के भीतर उसका कितना अंश समा सकता था, इसका विचार भी हमें रखना पड़ता है। दुष्टों और खलों के सामने उसकी उतनी मात्रा नहीं रह सकती थी, जो गोस्वामीजी को उन्हें दुष्ट और खल कहने तथा उनके स्वरूप पर ध्यान देने से रोक देती। साधुओं की वंदना से छुट्टी पाते ही वे खलों को याद करते हैं। उनकी वंदना

करके भी वे उनसे अनुग्रह की आशा नहीं रखते, क्योंकि अनुग्रह करना तो उनका स्वभाव ही नहीं—

बायस पालिय अति अनुरागा। होहि निरामिष कबहुँ कि कागा॥

राम के सामने तो उन्हें अपने ऐसा कोई खल ही संसार में नहीं दिखाई देता, उनके सामने तो वे कदापि यह नहीं कह सकते कि क्या मैं उससे भी खल हूँ। यहाँ तो वे "सब पतितों के नायक" बन जाते हैं। पर जब खलों से वास्ता पड़ता है, तब उनके सामने वे अपना लघुत्व-प्रदर्शन नहीं करते; उन्हें कौवा कहते हैं और आप कोयल बनते हैं—

खल-परिहास होहि हित मोरा। काक कहहिं कलकंठ कठोरा॥

जब तक 'साधना' के एकांत क्षेत्र में रहते हैं, तब तक तो वे अपने सात्त्विक भावों को ऊँचे चढ़ाते चले जाते हैं; पर जब व्यवहार-क्षेत्र में आते हैं, तब उन्हें कम से कम अपने वचनों का सामंजस्य लोक-धर्म के अनुसार संसार की विविध वृत्तियों के साथ करना पड़ता है। पर इससे उनके अंत:करण में कुछ भी मलिनता नहीं आती, व्यक्ति के प्रति ईर्ष्या-द्वेष का उदय नहीं होने पाता। द्वेष उन्हें दुष्कर्म से है, व्यक्ति से नहीं। भारी से भारी खल के संबंध में भी उनकी बुद्धि ऐसी नहीं हो सकती कि अवसर मिलता तो इसकी कुछ हानि करते।

सबसे अधिक चिढ़ उन्हें 'पाषंड' और 'अनधिकार-चर्चा' से थी। खलों के साथ समझौता तो वे अपने मन को इस तरह समझाकर कि—

सुधा सुरा सम साधु असाधू। जनक एक जग-जलधि अगाधू॥

बड़ी जल्दी कर लेते हैं, पर 'पाषंडियों' और बिना समझी-बूझी बातें बककर अपने को ज्ञानी प्रकट करनेवालों से उनकी विधि नहीं बैठती थी। उनकी बातें सुनते ही वे चिढ़ जाते थे और कभी

कभी फटकार भी देते थे। एक साधु को बार बार 'अलख अलख' कहते सुनकर उनसे न रहा गया। वे बोल उठे—

तुलसी अलखहि का लखै, राम नाम जपु नीच।

इस 'नीच' शब्द से ही उनकी चिड़चिड़ाहट का अंदाज कर लीजिए। आडंबरियों और पाषंडियों ने उन्हें कुछ चिड़चिड़ा कर दिया था।

इससे प्रकट होता है कि उनके अंत:करण की सबसे प्रधान वृत्ति थी सरलता, जिसकी विपरीतता वे सहन नहीं कर सकते थे। अत: इस थोड़ी सी चिड़चिड़ाहट को भी सरलता के अंतर्गत लेकर संक्षेप में हम कह सकते हैं कि गोस्वामीजी का स्वभाव अत्यंत सरल, शांत, गंभीर और नम्र था। सदाचार की तो वे मूर्त्ति थे। धर्म और सदाचार को दृढ़ न करनेवाले भाव को—चाहे वह कितना ही ऊँचा हो—वे भक्ति नहीं मानते थे। उनकी भक्ति वह भक्ति नहीं है जिसे कोई लंपटता या विलासिता का आवरण बना सके।

यद्यपि गोस्वामीजी निरभिमान थे, पर लोभवश या भयवश अपनी हीनता प्रकट करने को वे सच्चा 'दैन्य' नहीं समझते थे, आत्म-गौरव का ह्रास समझते थे। राम की शरण में जाकर वे निर्भय हो चुके थे, राम से याचना करके वे अयाचमान हो चुके थे, अत:—

किरपा जिनकी कछु काज नहीं, न अकाज कछू जिनके मुख मोरे।

उनकी प्रशंसा या खुशामद करने वे क्यों जाते? उनकी प्रशंसा करना वे सरस्वती का गला दबाना समझते थे—

कीन्हें प्राकृत-जन-गुन-गाना। सिर धुनि गिरा लागि पछिताना॥

इस समझ के अनुसार वे बराबर चले। उन्होंने कहीं किसी ग्रंथ में अपने समय के किसी मनुष्य की प्रशंसा नहीं की है। केवल सच्चे स्नेह के नाते, उत्तम आचरण पर रीझकर, उन्होंने अपने मित्र टोडर के संबंध में चार दोहे कहे हैं।

भारतभूमि में उत्पन्न होना वे गौरव की बात समझते थे। इस भूमि में और अच्छे कुल में जन्म को वे अच्छे कर्मों के साधन का भगवान् की कृपा से मिला हुआ अच्छा अवसर मानते थे—

(क) भलि भारत भूमि, भले कुल जन्म, समाज सरीर भलो लहिकै।
जो भजै भगवान सयान सोई तुलसी हठ चातक ज्यों गहिकै।

(ख) दियो सुकुल जनम सरीर सुंदर हेतु जो फल चारि को।
जो पाइ पंडित परम पद पावत पुरारि मुरारि को॥
यह भरतखंड समीप सुरसरि, थल भलो, संगति भली।
तेरी कुमति कायर कलपबल्ली चहति बिष-फल फली॥

गोस्वामीजी लोकदर्शी भक्त थे अतः मर्यादा की भावना उनमें हम बराबर पाते हैं। राम के साथ अपने घनिष्ठ संबंध का अनुभव करते हुए भी वे उनके सामने अपनी बात कहने अदब कायदे के साथ जाते हैं। 'माधुर्य्य भाव' की उपासना से उनकी उपासना की मानसिक पद्धति स्पष्ट अलग दिखाई पड़ती है। 'विनय-पत्रिका' में वे अपनी ही अवस्था का निवेदन करने बैठे हैं पर वहाँ भी वे लोक-प्रतिनिधि के रूप में दिखाई पड़ते हैं। वे कलि की अनीति और अत्याचार से रक्षा चाहते हैं जिनसे केवल वे ही नहीं, समस्त लोक पीड़ित है। उनकी मंगलाशा के भीतर जगत् की मंगलाशा छिपी हुई है। वे अपने को लोक से असंबद्ध करके नहीं देखते। उन्हें उनके आराध्य राम किसी एकांत कोने में नहीं मिलते; भरे दरबार में, खुले संसार में मिलते हैं। 'विनय-पत्रिका' रामचंद्रजी के दरबार में गुजरनेवाली अर्जी है जिसकी तहरीर जबरदस्त है। यह अर्जी योंही बाला बाला नहीं भेज दी जाती है। कायदे के खिलाफ काम करनेवाले—मर्य्यादा का भंग करनेवाले—आदमी तुलसीदासजी नहीं हैं। बीच के देवताओं और मुसाहबों के पास से होती हुई तब हुजूर में गुजरती है। वहाँ पहले से सधे हुए लोग मौजूद हैं।

हनुमान् और भरत धीरे से इशारा करते हैं (दरबार है, ठट्ठा नहीं है)। तब लक्ष्मण धीरे से अर्जी पेश करते हैं; और लोग भी जोर दे देते हैं। अंत में महाराजाधिराज हँसकर यह कहते हुए कि "मुझे भी इसकी खबर है", मंजूरी लिख देते हैं।

कुछ रत्न-पारखियों ने सूर और तुलसी में प्रकृति-भेद दिखाने का प्रयास करते हुए सूर को खरा और स्पष्टवादी तथा तुलसी को सिफारशी, खुशामदी या लल्लो-चप्पो करनेवाला कहा है। उन्होंने सूर की स्पष्टवादिता के प्रमाण में ये वाक्य पेश किए हैं—

सूरदास प्रभु वै अति खोटे, यह उनहू तें अति ही खोटी।

सूरदास सर्वस जो दीजै कारो कृतहि न मानै।

उन दोनों पदों पर, जिनमें ये वाक्य आए हैं, जो साहित्य की दृष्टि से थोड़ा भी विचार करेगा वह जान लेगा कि कृष्ण न तो वास्तव में खोटे कहे गए हैं, न कलूटे कृतघ्न। ये वाक्य तो विनोद या परिहास की उक्तियाँ हैं। शृंगाररस में सखियाँ इस प्रकार का परिहास बराबर किया करती हैं।

तुलसी पर लगाया हुआ दूसरा इलजाम, जिससे सूर बरी किए गए हैं, यह है कि वे रह रहकर फजूल याद दिलाया करते हैं कि राम ईश्वर हैं। ठीक है; तुलसी ऐसा जरूर करते हैं। पर कहाँ? रामचरित-मानस में। पर रामचरित-मानस तुलसीदास का एक मात्र ग्रंथ नहीं है। उसके अतिरिक्त तुलसीदासजी के और भी कई ग्रंथ हैं। क्या सब में यही बात पाई जाती है? यदि नहीं, तो इसका विवेचन करना चाहिए कि रामचरित-मानस में ही यह बात क्यों है। मेरी समझ में इसके कारण ये हैं—

(१) रामचरित-मानस की कथा के वक्ता तीन हैं—शिव, याज्ञवल्क्य और काकभुशुंडि। श्रोता हैं पार्वती, भरद्वाज और गरुड़। इन तीनों श्रोताओं ने अपना यह मोह प्रकट किया है कि कहीं राम

मनुष्य तो नहीं हैं। तीनों वक्ता जो कथा कह रहे हैं, वह इसी मोह को छुड़ाने के लिये। इसलिये कथा के बीच बीच में याद दिलाते जाना बहुत उचित है। गोस्वामीजी ने भूमिका में ही इस बात को स्पष्ट करके शंका की जगह नहीं छोड़ी है।

(२) रामचरित-मानस एक प्रबंध-काव्य है, जिसमें कथा का प्रवाह अनेक घटनाओं पर से होता हुआ लगातार चला चलता है। इस दशा में कथा-प्रवाह में मग्न पाठक या श्रोता को असल बात की ओर ध्यान दिलाते रहने की आवश्यकता समय समय पर उस कवि को अवश्य मालूम होगी, जो नायक को ईश्वरावतार के रूप में ही दिखाना चाहता है। फुटकर पद्यों में इसकी आवश्यकता न प्रतीत होगी। सूरसागर की शैली पर तुलसी की 'गीतावली' है। उसमें यह बात नहीं पाई जाती। जब कि समान शैली की रचना मिलती है, तब मिलान के लिये उसी को लेना चाहिए।

(३) श्रीकृष्ण के लिये 'हरि', 'जनार्दन' आदि विष्णुवाचक शब्द बराबर लाए जाते हैं, इससे चेतावनी की आवश्यकता नहीं रह जाती। गोपियों ने कृष्ण के लिये बराबर 'हरि' शब्द का व्यवहार किया है।

लोक-धर्म

कर्म, ज्ञान और उपासना लोक-धर्म के ये तीन अवयव जन-समाज की स्थिति के लिये बहुत प्राचीन काल से भारत में प्रतिष्ठित हैं। मानव-जीवन की पूर्णता इन तीनों के मेल के बिना नहीं हो सकती। पर देश-काल के अनुसार कभी किसी अवयव की प्रधानता रही, कभी किसी की। यह प्रधानता लोक में जब इतनी प्रबल हो जाती है कि दूसरे अवयवों की ओर लोक की प्रवृत्ति का अभाव सा होने लगता है, तब साम्य स्थापित करने के लिये शेष अवयवों की ओर जनता को आकर्षित करने के लिये कोई न कोई महात्मा उठ खड़ा होता है। एक बार जब कर्म-कांड की प्रबलता हुई तब याज्ञवल्क्य के द्वारा उपनिषदों के ज्ञानकांड की ओर लोग प्रवृत्त किए गए। कुछ दिनों में फिर कर्मकांड प्रबल पड़ा और यज्ञों में पशुओं का बलिदान धूमधाम से होने लगा। उस समय भगवान् बुद्धदेव का अवतार हुआ जिन्होंने भारतीय जनता को एक बार कर्मकांड से बिलकुल हटाकर अपने ज्ञान-वैराग्य-मिश्रित धर्म की ओर लगाया। पर उनके धर्म में 'उपासना' का भाव नहीं था, इससे साधारण जनता के हृदय की तृप्ति उससे न हुई और उपासना-प्रधान धर्म की स्थापना फिर से हुई।

पर किसी एक अवयव की अत्यंत वृद्धि से उत्पन्न विषमता हटाने के लिये जो मत प्रवर्तित हुए, उनमें उनके स्थान पर दूसरे अवयव का हद से बढ़ना स्वाभाविक था। किसी बात की एक हद पर पहुँचकर जनता फिर पीछे पलटती है और क्रमशः बढ़ती हुई दूसरी हद पर जा पहुँचती है। धर्म और राजनीति दोनों में यह उलट-फेर, चक्रगति के रूप में, होता चला आ रहा है। जब जन-

समाज नई उमंग से भरे हुए किसी शक्तिशाली व्यक्ति के हाथ में पड़कर किसी एक हद से दूसरी हद पर पहुँचा दिया जाता है, तब काल पाकर उसे फिर किसी दूसरे के सहारे किसी दूसरी हद तक जाना पड़ता है। जिन मत-प्रवर्तक महात्माओं को आजकल की बोली में हम 'सुधारक' कहते हैं, वे भी मनुष्य थे। किसी वस्तु को अत्यधिक परिमाण में देख जो विरक्ति या द्वेष होता है, वह उस परिणाम के ही प्रति नहीं रह जाता किंतु उस वस्तु तक पहुँचता है। चिढ़नेवाला उस वस्तु की अत्यधिक मात्रा से चिढ़ने के स्थान पर उस वस्तु से ही चिढ़ने लगता है और उससे भिन्न वस्तु की ओर अग्रसर होने और अग्रसर करने में परिमिति या मर्यादा का ध्यान नहीं रखता। इससे नए नए मत-प्रवर्तकों या 'सुधारकों' से लोक में शांति स्थापित होने के स्थान पर अब तक अशांति ही होती आई है। धर्म के सब पक्षों का ऐसा सामंजस्य जिससे समाज के भिन्न भिन्न व्यक्ति अपनी प्रकृति और विद्या-बुद्धि के अनुसार धर्म का स्वरूप ग्रहण कर सकें, यदि पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित हो जाय तो धर्म का रास्ता अधिक चलता हो जाय।

उपर्युक्त सामंजस्य का भाव लेकर गोस्वामी तुलसीदासजी की आत्मा ने उस समय भारतीय जन-समाज के बीच अपनी ज्योति जगाई जिस समय नए नए संप्रदायों की खींचतान के कारण आर्य्य-धर्म का व्यापक स्वरूप आँखों से ओझल हो रहा था, एकांगदर्शिता बढ़ रही थी। जो एक कोना देख पाता था, वह दूसरे कोने पर दृष्टि रखनेवालों को बुरा-भला कहता था। शैवों, वैष्णवों, शाक्तों और कर्मठों की तू तू मैं मैं तो थी ही, बीच में मुसलमानों से अविरोध-प्रदर्शन करने के लिये भी अपढ़ जनता को साथ लगानेवाले कई नए नए पंथ निकल चुके थे जिनमें एकेश्वरवाद का कट्टर स्वरूप, उपासना का आशिकी रंग-ढंग, ज्ञान-विज्ञान की निंदा, विद्वानों

का उपहास, वेदांत के दो-चार प्रसिद्ध शब्दों का अनधिकार प्रयोग आदि सब कुछ था; पर लोक को व्यवस्थित करनेवाली वह मर्यादा न थी जो भारतीय आर्य्य-धर्म का प्रधान लक्षण है। जिस उपासना-प्रधान धर्म का जोर बुद्ध के पीछे बढ़ने लगा, वह उस मुसलमानी राजत्वकाल में आकर—जिसमें जनता की बुद्धि भी पुरुषार्थ के ह्रास के साथ साथ शिथिल पड़ गई थी—कर्म और ज्ञान दोनों की उपेक्षा करने लगा था। ऐसे समय में इन नए पंथों का निकलना कुछ आश्चर्य की बात नहीं। इधर शास्त्रों का पठन-पाठन कम लोगों में रह गया था, उधर ज्ञानी कहलाने की इच्छा रखनेवाले मूर्ख बढ़ रहे थे जो किसी "सतगुरु के प्रसाद" मात्र से ही अपने को सर्वज्ञ मानने के लिये तैयार बैठे थे। अत: 'सतगुरु' भी उन्हीं में से निकल पड़ते थे जो धर्म का कोई एक अंग नोचकर एक ओर भाग खड़े होते थे; और कुछ लोग झाँझ-खँजड़ी लेकर उनके पीछे हो लेते थे। दंभ बढ़ रहा था। "ब्रह्म ज्ञान बिनु नारि-नर कहहिं न दूसरि बात।" ऐसे लोगों ने भक्ति को बदनाम कर रखा था। 'भक्ति' के नाम पर ही वे वेदशास्त्रों की निंदा करते थे, पंडितों को गालियाँ देते थे और आर्य्य-धर्म के सामाजिक तत्त्व को न समझकर लोगों में वर्णाश्रम के प्रति अश्रद्धा उत्पन्न कर रहे थे। यह उपेक्षा लोक के लिये कल्याणकर नहीं। 'जिस समाज से बड़ों का आदर, विद्वानों का सम्मान, अत्याचार का दमन करनेवाले शूरवीरों के प्रति श्रद्धा इत्यादि भाव उठ जायँ, वह कदापि फल फूल नहीं सकता; उसमें अशांति सदा बनी रहेगी।'

'भक्ति' का यह विकृत रूप जिस समय उत्तर भारत में अपना स्थान जमा रहा था, उसी समय भक्तवर गोस्वामीजी का अवतार हुआ जिन्होंने वर्ण-धर्म, आश्रम-धर्म, कुलाचार, वेदविहित कर्म, शास्त्र-प्रतिपादित ज्ञान इत्यादि सबके साथ भक्ति का पुन: सामंजस्य

स्थापित करके आर्य्य-धर्म को छिन्न-भिन्न होने से बचाया। ऐसे सर्वांगदर्शी लोक-व्यवस्थापक महात्मा के लिये मर्य्यादापुरुषोत्तम भगवान् रामचंद्र के चरित्र से बढ़कर अवलंब और क्या मिल सकता था! उसी आदर्श चरित्र के भीतर अपनी अलौकिक प्रतिभा के बल से उन्होंने धर्म के सब रूपों को दिखाकर भक्ति का प्रकृत आधार खड़ा किया। जनता ने लोक की रक्षा करनेवाले प्राकृतिक धर्म का मनोहर रूप देखा। उसने धर्म को दया, दाक्षिण्य, नम्रता, सुशीलता, पितृभक्ति, सत्यव्रत, उदारता, प्रजापालन, क्षमा आदि में ही नहीं देखा बल्कि क्रोध, घृणा, शोक, विनाश और ध्वंस आदि में भी उसे देखा। अत्याचारियों पर जो क्रोध प्रकट किया जाता है, असाध्य दुर्जनों के प्रति जो घृणा प्रकट की जाती है, दीन-दुखियों को सतानेवालों का जो संहार किया जाता है, कठिन कर्त्तव्यों के पालन में जो वीरता प्रकट की जाती है, उसमें भी धर्म अपना मनोहर रूप दिखाता है। जिस धर्म की रक्षा से लोक की रक्षा होती है—जिससे समाज चलता है—वह यही व्यापक धर्म है। सत् और असत्, भले और बुरे दोनों के मेल का नाम संसार है। पापी और पुण्यात्मा, परोपकारी और अत्याचारी, सज्जन और दुर्जन सदा से संसार में रहते आए हैं और सदा रहेंगे।

सुगुन छीर, अवगुन जल, ताता। मिलइ रचइ परपंच बिधाता॥

किसी एक सर्प को उपदेश द्वारा चाहे कोई अहिंसा में तत्पर कर दे, किसी डाकू को साधु बना दे, क्रूर को सज्जन कर दे; पर सर्प, दुर्जन और क्रूर संसार में रहेंगे और अधिक रहेंगे। यदि ये उभय पक्ष न होंगे तो सारे धर्म और कर्त्तव्य की, सारे जीवन-प्रयत्न की इतिश्री हो जायगी। यदि एक गाल में चपत मारनेवाला ही न रहेगा तो दूसरा गाल फेरने का महत्त्व कैसे दिखाया जायगा? प्रकृति के तीनों गुणों की अभिव्यक्ति जब तक अलग अलग है, तभी

तक उसका नाम जगत् या संसार है। अत. ऐसी दुष्टता सदा रहेगी जो सज्जनता के द्वारा कभी नहीं दबाई जा सकती, ऐसा अत्याचार सदा रहेगा जिसका दमन उपदेशों के द्वारा कभी नहीं हो सकता। संसार जैसा है, वैसा मानकर उसके बीच से, एक एक कोने को स्पर्श करता हुआ, जो धर्म निकलेगा वही धर्म लोक-धर्म होगा। जीवन के किसी एक अंग मात्र को स्पर्श करनेवाला धर्म लोक-धर्म नहीं। जो धर्म उपदेश द्वारा न सुधरनेवाले दुष्टों और अत्याचारियों को दुष्टता के लिये छोड़ दे, उनके लिये कोई व्यवस्था न करे, वह लोक-धर्म नहीं, व्यक्तिगत साधना है। यह साधना मनुष्य की वृत्ति को ऊँचे से ऊँचे ले जा सकती है जहाँ वह लोक-धर्म से परे हो जाती है। पर सारा समाज इसका अधिकारी नहीं। जनता की प्रवृत्तियों का औसत निकालने पर धर्म का जो मान निर्धारित होता है, वही लोक-धर्म होता है।

ईसाई, बौद्ध, जैन इत्यादि वैराग्य-प्रधान मतों में साधना के जो धर्मोपदेश दिए गए, उनका पालन अलग अलग कुछ व्यक्तियों ने चाहे किया हो, पर सारे समाज ने नहीं किया। किसी ईसाई साम्राज्य ने अन्याय-पूर्वक अग्रसर होनेवाले दूसरे साम्राज्य से मार खाकर अपना दूसरा गाल नहीं फेरा। वहाँ भी समष्टिरूप में जनता के बीच लोक-धर्म ही चलता रहा। अत: व्यक्तिगत साधना के कोरे उपदेशों की तड़क-भड़क दिखाकर लोक-धर्म के प्रति उपेक्षा प्रकट करना पाषंड ही नहीं है, उस समाज के प्रति घोर कृतघ्नता भी है जिसके बीच काया पली है।

लोकमर्य्यादा का उल्लंघन, समाज की व्यवस्था का तिरस्कार, अनधिकार चर्चा, भक्ति और साधुता का मिथ्या दंभ, मूर्खता छिपाने के लिये वेद-शास्त्र की निंदा, ये सब बातें ऐसी थीं जिनसे गोस्वामीजी की अंतरात्मा बहुत व्यथित हुई।

इस दल का लोक-विरोधी स्वरूप गोस्वामीजी ने खूब पहचाना। समाज-शास्त्र के आधुनिक विवेचकों ने भी लोक-संग्रह और लोक-विरोध की दृष्टि से जनता का विभाग किया है। गिडिंग के चार विभाग ये हैं—लोक-संग्रही, लोक-बाह्य, अलोकोपयोगी और लोक-विरोधी*। लोकसंग्रही वे हैं जो समाज की व्यवस्था और मर्य्यादा की रक्षा में तत्पर रहते हैं और भिन्न भिन्न वर्गों के परस्पर संबंध को सुखावह और कल्याण-प्रद करने की चेष्टा में रहते हैं। लोक-बाह्य वे हैं जो केवल अपने जीवन-निर्वाह से काम रखते हैं और लोक के हिताहित से उदासीन रहते हैं। अलोकोपयोगी वे हैं जो समाज में मिले तो दिखाई देते हैं, पर उसके किसी अर्थ के नहीं होते; जैसे आलसी और निकम्मे जिन्हें पेट भरना ही कठिन रहता है। लोक-विरोधी वे हैं जिन्हें लोक से द्वेष होता है और जो उसके विधान और व्यवस्था को देखकर जला करते हैं। गिडिंग ने इस चतुर्थ वर्ग के भीतर पुराने पापियों और अपराधियों को लिया है। पर अपराध की अवस्था तक न पहुँचे हुए लोग भी उसके भीतर आते हैं जो अपने ईर्ष्या-द्वेष का उद्गार उतने उग्र रूप में नहीं निकालते, कुछ मृदुल रूप में प्रकट करते हैं।

अशिष्ट संप्रदायों का औद्धत्य गोस्वामीजी नहीं देख सकते थे। इसी औद्धत्य के कारण विद्वान् और कर्मनिष्ठ भी भक्तों को उपेक्षा की दृष्टि से देखने लगे थे, जैसा कि गोस्वामीजी के इन वाक्यों से प्रकट होता है—

कर्मठ कठमलिया कहैं ज्ञानी ज्ञान-विहीन।

---

*The true Social Classes are—the Social, the non-Social, the pseudo-Social and the anti-Social—Giding's "The Principles of Sociology."

धर्म-व्यवस्था के बीच ऐसी विषमता उत्पन्न करनेवाले नए नए पंथों के प्रति इसी से उन्होंने अपनी चिढ़ कई जगह प्रकट की है; जैसे—

स्रुति-सम्मत हरिभक्ति-पथ, संजुत बिरति बिवेक।
तेहि परिहरहिं बिमोह-बस कल्पहिं पंथ अनेक॥

❀ ❀ ❀ ❀

साखी, सबदी, दोहरा, कहि किहनी उपखान।
भगत निरूपहिं भगति कलि, निंदहिं बेद पुरान॥

उत्तरकांड में कलि के व्यवहारों का वर्णन करते हुए वे इस प्रसंग में कहते हैं—

बादहिं सूद्र द्विजन सन हम तुमतें कछु घाटि।
जानहि ब्रह्म सो बिप्रबर, आँखि दिखावहिं डाँटि॥

जो बातें ज्ञानियों के चिंतन के लिये थीं, उन्हें अपरिपक्व रूप में अनधिकारियों के आगे रखने से लोक-धर्म का तिरस्कार अनिवार्य्य था। 'शूद्र' शब्द से जाति की नीचता मात्र से अभिप्राय नहीं है; विद्या, बुद्धि, शील, शिष्टता, सभ्यता सबकी हीनता से है। समाज में मूर्खता का प्रचार, बल और पौरुष का ह्रास, अशिष्टता की वृद्धि, प्रतिष्ठित आदर्शों की उपेक्षा कोई विचारवान् नहीं सहन कर सकता। गोस्वामीजी सच्चे भक्त थे। भक्ति-मार्ग की यह दुर्दशा वे कब देख सकते थे? लोकविहित आदर्शों की प्रतिष्ठा फिर से करने के लिये, भक्ति के सच्चे सामाजिक आधार फिर से खड़े करने के लिये, उन्होंने रामचरित का आश्रय लिया जिसके बल से लोगों ने फिर धर्म के जीवन-व्यापी स्वरूप का साक्षात्कार किया और उस पर मुग्ध हुए। "कलिकलुष-विभंजिनी" राम-कथा घर घर धूम-धाम से फैली। हिंदू-धर्म में नई शक्ति का संचार हुआ। "स्रुति-सम्मत हरिभक्ति" की ओर जनता फिर से आकर्षित हुई। रामचरितमानस के प्रसाद से उत्तर भारत में सांप्रदायिकता का वह उच्छृंखल रूप अधिक न ठहरने

पाया जिसने गुजरात आदि में वर्ग के वर्ग को वैदिक संस्कारों से एकदम विमुख कर दिया था, दक्षिण में शैवों और वैष्णवों का घोर द्वंद्व खड़ा किया था। यहाँ की किसी प्राचीन पुरी में शिवकांची और विष्णुकांची के समान दो अलग अलग बस्तियाँ होने की नौबत नहीं आई। यहाँ शैवों और वैष्णवों में मार-पीट कभी नहीं होती। यह सब किसके प्रसाद से? भक्तशिरोमणि गोस्वामी तुलसीदासजी के प्रसाद से। उनकी शांति-प्रदायिनी मनोहर वाणी के प्रभाव से जो सामंजस्य-बुद्धि जनता में आई, वह अब तक बनी है और जब तक रामचरितमानस का पठन-पाठन रहेगा, तब तक बनी रहेगी।

शैवों और वैष्णवों के विरोध के परिहार का प्रयत्न रामचरित-मानस में स्थान स्थान पर लक्षित होता है। ब्रह्मवैवर्त्त पुराण के गणेशखंड में शिव हरिमंत्र के जापक कहे गए हैं। उसके अनुसार उन्होंने शिव को राम का सबसे अधिकारी भक्त बनाया, पर साथ ही राम को शिव का उपासक बनाकर गोस्वामीजी ने दोनों का महत्त्व प्रतिपादित किया। राम के मुखारविंद से उन्होंने स्पष्ट कहला दिया कि—

शिवद्रोही मम दास कहावै। सो नर सपनेहु मोहिं न भावै॥

वे कहते हैं कि "शंकर-प्रिय, मम द्रोही, शिवद्रोही, मम दास" मुझे पसंद नहीं।

इस प्रकार गोस्वामीजी ने उपासना या भक्ति का केवल कर्म और ज्ञान के साथ ही सामंजस्य स्थापित नहीं किया, बल्कि भिन्न भिन्न उपास्य देवों के कारण जो भेद दिखाई पड़ते थे, उनका भी एक में पर्यवसान किया। इसी एक बात से यह अनुमान हो सकता है कि उनका प्रभाव हिंदू-समाज की रक्षा के लिये—उसके स्वरूप को रखने के लिये—कितने महत्त्व का था!

तुलसीदासजी यद्यपि राम के अनन्य भक्त थे, पर लोक-रीति के अनुसार अपने ग्रंथों में गणेशवंदना पहले करके तब वे आगे चले हैं। सूरदासजी ने 'हरि हरि हरि हरि सुमिरन करौ" से ही ग्रंथ का आरंभ किया है। तुलसीदासजी की अनन्यता सूरदास से कम नहीं थी, पर लोक-मर्य्यादा की रक्षा का भाव लिए हुए थी। सूर-दासजी की भक्ति में लोक-संग्रह का भाव न था। पर हमारे गोस्वामीजी का भाव अत्यत व्यापक था—वह मानव-जोवन के सब व्यापारों तक पहुँचनेवाला था। राम की लीला के भीतर वे जगत् के सारे व्यवहार और जगत् के सारे व्यवहारों के भीतर राम की लीला देखते थे। पारमार्थिक दृष्टि से तो सारा जगत् राममय है, पर व्यावहारिक दृष्टि से उसके राम और रावण दो पक्ष हैं। अपने स्वरूप के प्रकाश के लिये मानों राम ने रावण का असत् रूप खड़ा किया। 'मानस' के आरंभ में सिद्धांत-कथन के समय तो वे "सियाराम-मय सब जग जानी" सबको "सप्रेम प्रणाम" करते हैं, पर आगे व्यवहार-क्षेत्र में चलकर वे रावण के प्रति 'शठ' आदि बुरे शब्दों का प्रयोग करते हैं।

भक्ति के तत्त्व को हृदयंगम करने के लिये उसके विकास पर ध्यान देना आवश्यक है। अपने ज्ञान की परिमिति के अनुभव के साथ साथ मनुष्य जाति आदिम काल से ही आत्मरक्षा के लिये परोक्ष शक्तियों को उपासना करती आई है। इन शक्तियों की भावना वह अपनी परिस्थिति के अनुरूप ही करती रही। दु:खों से बचने का प्रयत्न जीवन का प्रथम प्रयत्न है। इन दु:खों का आना न आना बिलकुल अपने हाथ में नहीं है, यह देखते ही मनुष्य ने उनको कुछ परोक्ष शक्तियों द्वारा प्रेरित समझा। अत: बलिदान आदि द्वारा उन्हें शांत और तुष्ट रखना उसे आवश्यक दिखाई पड़ा। इस आदिम उपासना का मूल था "भय"। जिन देवताओं की

उपासना असभ्य दशा में प्रचलित हुई, वे "अनिष्टदेव" थे। आगे चलकर जब परिस्थिति ने दुःख-निवारण मात्र से कुछ अधिक सुख की आकांक्षा का अवकाश दिया, तब साथ ही देवों के सुख-समृद्धि-विधायक रूप की प्रतिष्ठा हुई। यह 'इष्टानिष्ट' भावना बहुत काल तक रही। वैदिक देवताओं को हम इसी रूप में पाते हैं। वे पूजा पाने से प्रसन्न होकर धन, धान्य, ऐश्वर्य, विजय सब कुछ देते थे; पूजा न पाने पर कोप करते थे और घोर अनिष्ट करते थे। ब्रज के गोपों ने जब इंद्र की पूजा बंद कर दी थी, तब इंद्र ने ऐसा ही कोप किया था। उसी काल से 'इष्टानिष्ट' काल की समाप्ति माननी चाहिए।

समाज के पूर्ण रूप से सुव्यवस्थित हो जाने के साथ ही मनुष्य के कुछ आचरण लोकरक्षा के अनुकूल और कुछ प्रतिकूल दिखाई पड़ गए थे। 'इष्टानिष्ट' काल के पूर्व ही लोक-धर्म और शील की प्रतिष्ठा समाज में हो चुकी थी; पर उनका संबंध प्रचलित देवताओं के साथ नहीं स्थापित हुआ था। देवगण धर्म और शील से प्रसन्न होनेवाले, अधर्म और दुःशीलता पर कोप करनेवाले नहीं हुए थे; वे अपनी पूजा से प्रसन्न होनेवाले और उस पूजा में त्रुटि से ही अप्रसन्न होनेवाले बने थे। ज्ञानमार्ग की ओर एक ब्रह्म का निरूपण बहुत पहले से हो चुका था, पर वह ब्रह्म लोक-व्यवहार से तटस्थ था। लौकिक उपासना के योग्य वह नहीं था। धीरे धीरे उसके व्यावहारिक रूप, सगुण रूप, की तीन रूपों में प्रतिष्ठा हुई—स्रष्टा, पालक और संहारक। उधर स्थिति-रक्षा का विधान करनेवाले धर्म और शील के नाना रूपों की अभिव्यक्ति पर जनता पूर्ण रूप से मुग्ध हो चुकी थी। उसने चट दया, दाक्षिण्य, क्षमा, उदारता, वत्सलता, सुशीलता आदि उदात्त वृत्तियों का आरोप ब्रह्म के लोक-पालक सगुण स्वरूप में किया। लोक में 'इष्टदेव' की प्रतिष्ठा

हो गई। नारायण वासुदेव के मंगलमय रूप का साक्षात्कार हुआ। जन-समाज आशा और आनंद से नाच उठा। भागवत धर्म का उदय हुआ। भगवान् पृथ्वी का भार उतारने और धर्म की स्थापना करने के लिये बार बार आते हुए साक्षात् दिखाई पड़े। जिन गुणों से लोक की रक्षा होती है, जिन गुणों को देख हमारा हृदय प्रफुल्ल हो जाता है, उन गुणों को हम जिसमें देखें, वही 'इष्टदेव' है—हमारे लिये वही सबसे बड़ा है—

तुलसी जप तप नेम व्रत सब सबही तें होइ।
लहै बड़ाई देवता 'इष्टदेव' जब होइ॥

इष्टदेव भगवान् के स्वरूप के अंतर्गत केवल उनका दया-दाक्षिण्य ही नहीं, असाध्य दुष्टों के संहार की उनकी अपरिमित शक्ति और लोक-मर्यादा-पालन भी है।

भक्ति का यह मार्ग बहुत प्राचीन है। जिसे रूखे ढंग से 'उपासना' कहते हैं, उसी ने व्यक्ति की रागात्मक सत्ता के भीतर प्रेम-परिपुष्ट होकर 'भक्ति' का रूप धारण किया है। व्यष्टिरूप में प्रत्येक मनुष्य के और समष्टिरूप में मनुष्य-जाति के सारे प्रयत्नों का लक्ष्य स्थिति-रक्षा है। अत: ईश्वरत्व के तीन रूपों में स्थिति-विधायक रूप ही भक्ति का आलंबन हुआ। विष्णु या वासुदेव की उपासना ही मनुष्य के रतिभाव को अपने साथ लगाकर भक्ति की परम अवस्था को पहुँच सकी। या यों कहिए कि भक्ति की ज्योति का पूर्ण प्रकाश वैष्णवों में ही हुआ।

तुलसीदास के समय में दो प्रकार के भक्त पाए जाते थे। एक तो प्राचीन परंपरा के रामकृष्णोपासक जो वेदशास्त्रज्ञ तत्त्वदर्शी आचार्यों द्वारा प्रवर्तित संप्रदायों के अनुयायी थे; जो अपने उपदेशों में दर्शन, इतिहास, पुराण आदि के प्रसंग लाते थे। दूसरे वे जो समाज-व्यवस्था की निंदा और पूज्य तथा सम्मानित व्यक्तियों के

उपहास द्वारा लोगों को आकर्षित करते थे। समाज की व्यवस्था में कुछ विकार आ जाने से ऐसे लोगों के लिये अच्छा मैदान हो जाता है। समाज के बीच शासकों, कुलीनों, श्रीमानों, विद्वानों, शूरवीरों, आचार्यों इत्यादि को अवश्य अधिकार और सम्मान कुछ अधिक प्राप्त रहता है; अत: ऐसे लोगों की भी कुछ संख्या सदा रहती है जो उन्हें अकारण ईर्ष्या और द्वेष की दृष्टि से देखते हैं और उन्हें नीचा दिखाकर अपने अहंकार को तुष्ट करने की ताक में रहते हैं। अत: उक्त शिष्ट वर्गों में कोई दोष न रहने पर भी उनमें दोषोद्भावना करके कोई चलते पुरज़े का आदमी ऐसे लोगों को संग में लगाकर 'प्रवर्तक', 'अगुआ', 'महात्मा' आदि होने का डंका पीट सकता है। यदि दोष सचमुच हुआ तो फिर क्या कहना है। सुधार की सच्ची इच्छा रखनेवाले दो-चार होंगे तो ऐसे लोग पचीस। किसी समुदाय के मद, मत्सर, ईर्ष्या, द्वेष और अहंकार को काम में लाकर 'अगुआ' और 'प्रवर्त्तक' बनने का हौसला रखनेवाले समाज के शत्रु हैं। योरप में जो सामाजिक अशांति चली आ रही है, वह बहुत कुछ ऐसे ही लोगों के कारण। पूर्वीय देशों की अपेक्षा संघ-निर्माण में अधिक कुशल होने के कारण वे अपने व्यवसाय में बहुत जल्दी सफलता प्राप्त कर लेते हैं। योरप में जितने लोक-विप्लव हुए हैं, जितनी राजहत्या, नरहत्या हुई है, सबमें जनता के वास्तविक दु:ख और क्लेश का भाग यदि ⅓ था तो विशेष जन-समुदाय की नीच वृत्तियों का भाग ⅔। 'क्रांतिकारक', 'प्रवर्त्तक' आदि कहलाने का उन्माद योरप में बहुत अधिक है। इन्हीं उन्मादियों के हाथ में पड़कर वहाँ का समाज छिन्न-भिन्न हो रहा है। अभी थोड़े दिन हुए, एक मेम साहब पति-पत्नी के संबंध पर व्याख्यान देती फिरती थीं कि कोई आवश्यक नहीं कि स्त्री पति के घर में ही रहे।

भक्त कहलानेवाले एक विशेष समुदाय के भीतर जिस समय यह उन्माद कुछ बढ़ रहा था, उस समय भक्तिमार्ग के भीतर ही एक ऐसी सात्त्विक ज्योति का उदय हुआ जिसके प्रकाश में लोक-धर्म के छिन्न-भिन्न होते हुए अंग भक्ति-सूत्र के द्वारा ही फिर से जुड़े। चैतन्य महाप्रभु के भाव-प्रवाह के द्वारा वंगदेश में, अष्टछाप के कवियों के संगीत-स्रोत के द्वारा उत्तर भारत में प्रेम की जो धारा बही, उसने पंथवालों की परुष वचनावली से सूखते हुए हृदयों को आर्द्र तो किया, पर वह आर्य-शास्त्रानुमोदित लोक-धर्म के माधुर्य्य की ओर आकर्षित न कर सकी। यह काम गोस्वामी तुलसीदासजी ने किया। हिंदू समाज में फैलाया हुआ विष उनके प्रभाव से चढ़ने न पाया। हिंदू-जनता अपने गौरवपूर्ण इतिहास को भुलाने, कई सहस्र वर्षों के संचित ज्ञानभंडार से वंचित रहने, अपने प्रातःस्मरणीय आदर्श पुरुषों के आलोक से दूर पड़ने से बच गई। उसमें यह संस्कार न जमने पाया कि श्रद्धा और भक्ति के पात्र केवल सांसारिक कर्त्तव्यों से विमुख, कर्ममार्ग से च्युत कोरे उपदेश देनेवाले ही हैं। उसके सामने यह फिर से अच्छी तरह झलका दिया गया कि संसार के चलते व्यापारों में मग्न, अन्याय के दमन के अर्थ रणक्षेत्रों में अद्भुत पराक्रम दिखानेवाले, अत्याचार पर क्रोध से तिलमिलानेवाले, प्रभूत शक्ति-संपन्न होकर भी क्षमा करनेवाले, अपने रूप, गुण और शील से लोक का अनुरंजन करनेवाले, मैत्री का निर्वाह करनेवाले, प्रजा का पुत्रवत् पालन करनेवाले, बड़ों की आज्ञा का आदर करनेवाले, संपत्ति में नम्र रहनेवाले, विपत्ति में धैर्य्य रखनेवाले प्रिय या अच्छे ही लगते हैं, यह बात नहीं है। वे भक्ति और श्रद्धा के प्रकृत आलंबन हैं, धर्म के दृढ़ प्रतीक हैं।

सूरदास आदि अष्टछाप के कवियों ने श्रीकृष्ण के शृंगारिक रूप के प्रत्यक्षीकरण द्वारा 'टेढ़ी सीधी निर्गुण वाणी' की खिन्नता

और शुष्कता को हटाकर जीवन की प्रफुल्लता का आभास तो दिया, पर भगवान् के लोक-संग्रहकारी रूप का प्रकाश करके धर्म के सौंदर्य्य का साक्षात्कार नहीं कराया। कृष्णोपासक भक्तों के सामने राधा-कृष्ण की प्रेमलीला ही रखी गई, भगवान् की लोक-धर्म-स्थापना का मनोहर चित्रण नहीं किया गया। अधर्म और अन्याय से संलग्न वैभव और समृद्धि का जो विच्छेद उन्होंने कौरवों के विनाश द्वारा कराया, लोक-धर्म से च्युत होते हुए अर्जुन को जिस प्रकार उन्होंने सँभाला, शिशुपाल के प्रसंग में क्षमा और दंड की जो मर्य्यादा उन्होंने दिखाई, किसी प्रकार ध्वस्त न होनेवाले प्रबल अत्याचारी के निराकरण की जिस नीति के अवलंबन की व्यवस्था उन्होंने जरा-संध-वध द्वारा की, उसका सौंदर्य्य जनता के हृदय में अंकित नहीं किया गया। इससे असंस्कृत हृदयों में जाकर कृष्ण की शृंगारिक भावना ने विलास-प्रियता का रूप धारण किया और समाज केवल नाच-कूदकर जी बहलाने के योग्य हुआ।

जहाँ लोक-धर्म और व्यक्ति-धर्म का विरोध हो, वहाँ कर्म-मार्गी गृहस्थों के लिये लोक-धर्म का ही अवलंबन श्रेष्ठ है। यदि किसी अत्याचारी का दमन सीधे न्याय-संगत उपायों से नहीं हो सकता तो कुटिल नीति का अवलंबन लोक-धर्म की दृष्टि से उचित है। किसी अत्याचारी द्वारा समाज को जो हानि पहुँच रही है, उसके सामने वह हानि कुछ नहीं है जो किसी एक व्यक्ति के बुरे दृष्टांत से होगी। लक्ष्य यदि व्यापक और श्रेष्ठ है तो साधन का अनिवार्य्य अनौचित्य उतना खल नहीं सकता। भारतीय जन-समाज में लोक-धर्म का यह आदर्श यदि पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित रहने पाता तो विदेशियों के आक्रमण को व्यर्थ करने में देश अधिक समर्थ होता।

रामचरित के सौंदर्य्य द्वारा तुलसीदासजी ने जनता को लोक-धर्म की ओर जो फिर से आकर्षित किया, वह निष्फल नहीं हुआ।

वैरागियों का सुधार चाहे उससे उतना न हुआ हो, पर परोक्ष रूप में साधारण गृहस्थ जनता की प्रवृत्ति का बहुत कुछ संस्कार हुआ। दक्षिण में रामदास स्वामी ने इसी लोक-धर्माश्रित भक्ति का संचार करके महाराष्ट्र-शक्ति का अभ्युदय किया। पीछे से सिखों ने भी लोक-धर्म का आश्रय लिया और सिख-शक्ति का प्रादुर्भाव हुआ। हिंदू-जनता शिवाजी और गुरु गोविंदसिंह को राम-कृष्ण के रूप में और औरंगजेब को रावण और कंस के रूप में देखने लगी। जहाँ लोक ने किसी को रावण और कंस के रूप में देखा कि भगवान् के अवतार की संभावना हुई।

गोस्वामीजी ने यद्यपि भक्ति के साहचर्य्य से ज्ञान, वैराग्य का भी निरूपण किया है और पूर्ण रूप से किया है, पर उनका सबसे अधिक उपकार गृहस्थों के ऊपर है जो अपनी प्रत्येक स्थिति में उन्हें पुकारकर कुछ कहते हुए पाते हैं और वह 'कुछ' भी लोक-व्यवहार के अंतर्गत है, उसके बाहर नहीं। मान-अपमान से परे साधक होना संतों के लिये तो वे "खल के बचन संत सहैं जैसे" कहते हैं, पर साधारण गृहस्थों के लिये सहिष्णुता की मर्य्यादा बाँधते हुए कहते हैं कि "कतहुँ सुधाइहु तें बड़ दोषू"। साधक और संसारी दोनों के मार्गों की ओर वे संकेत करते हैं। व्यक्तिगत सफलता के लिये जिसे लोग 'नीति' कहते हैं, सामाजिक आदर्श की सफलता का साधक होकर वही 'धर्म' हो जाता है।

सारांश यह कि गोस्वामीजी से पूर्व तीन प्रकार के साधु समाज के बीच रमते दिखाई देते थे। एक तो प्राचीन परंपरा के भक्त जो प्रेम में मग्न होकर संसार को भूल रहे थे, दूसरे वे जो अनधिकार ज्ञानगोष्ठी द्वारा समाज के प्रतिष्ठित आदर्शों के प्रति तिरस्कार-बुद्धि उत्पन्न कर रहे थे; और तीसरे वे जो हठयोग,* रसायन आदि द्वारा

---

* गोरख जगायो जोग, भगति भगायो लोग,
निगम नियोग ते, सो केलि ही छरो सो है।—कवितावली।

अलौकिक सिद्धियों की व्यर्थ आशा का प्रचार कर रहे थे। इन तीनों वर्गों के द्वारा साधारण जनता के लोक-धर्म पर आरूढ़ होने की संभावना कितनी दूर थी, यह कहने की आवश्यकता नहीं। आज जो हम फिर झोपड़ों में बैठे किसानों को भरत के "भायप भाव" पर, लक्ष्मण के त्याग पर, राम की पितृभक्ति पर पुलकित होते हुए पाते हैं, वह गोस्वामीजी के ही प्रसाद से। धन्य है गार्हस्थ्य-जीवन में धर्मालोक-स्वरूप रामचरित और धन्य हैं उस आलोक को घर घर पहुँचानेवाले तुलसीदास। व्यावहारिक जीवन धर्म की ज्योति से एक बार फिर जगमगा उठा—उसमें नई शक्ति का संचार हुआ। जो कुछ भी नहीं जानता, वह भी यह जानता है कि—

जे न मित्र दुख होहिं दुखारी। तिनहिं बिलोकत पातक भारी॥

स्त्रियाँ और कोई धर्म जानें, या न जानें, पर वे वह धर्म जानती हैं जिससे संसार चलता है। उन्हें इस बात का विश्वास रहता है कि—

बृद्ध, रोग-बस, जड़, धनहीना। अंध बधिर क्रोधी अति दीना॥
ऐसेहु पति कर किए अपमाना। नारि पाव जमपुर दुख नाना॥

जिसमें बाहुबल है उसे यह समझ भी पैदा हो गई है कि दुष्ट और अत्याचारी 'पृथ्वी के भार' हैं; उस भार को उतारनेवाले भगवान् के अवतार हैं और उस भार को उतारने में सहायता पहुँचानेवाले भगवान् के सच्चे सेवक हैं। प्रत्येक देहाती लठैत 'बजरंगबली' की जयजयकार मनाता है—कुंभकर्ण की नहीं। गोस्वामीजी ने "रामचरित-चिंतामणि" को छोटे-बड़े सबके बीच बाँट दिया जिसके प्रभाव से हिंदू-समाज यदि चाहे—सच्चे जी से चाहे—तो सब कुछ प्राप्त कर सकता है।

भक्ति और प्रेम के पुटपाक द्वारा धर्म को रागात्मिका वृत्ति के साथ सम्मिश्रित करके बाबाजी ने एक ऐसा रसायन तैयार किया

जिसके सेवन से धर्म-मार्ग में कष्ट और श्रांति न जान पड़े, आनंद और उत्साह के साथ लोग आपसे आप इसकी ओर प्रवृत्त हों, धर-पकड़ और जबरदस्ती से नहीं। जिस धर्म-मार्ग में कोरे उपदेशों से कष्ट ही कष्ट दिखाई पड़ता है, वह चरित्र-सौंदर्य्य के साक्षात्कार से आनंदमय हो जाता है। मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति और निवृत्ति की दिशा को लिए हुए धर्म की जो लीक निकलती है, लोगों के चलते चलते चौड़ी होकर वही सीधा राजमार्ग हो सकती है; जिसके संबंध में गोस्वामीजी कहते हैं—

"गुरु कह्यो राम-भजन नीको मोहि लागत राजडगरो सो।"

धर्म और जातीयता का समन्वय

गोस्वामीजी द्वारा प्रस्तुत नवरसों का रामरसायन ऐसा पुष्टिकर हुआ कि उसके सेवन से हिंदू-जाति विदेशीय मतों के आक्रमणों से भी बहुत कुछ रक्षित रही और अपने जातीय स्वरूप को भी दृढ़ता से पकड़े रही। उसके भगवान् जीवन की प्रत्येक स्थिति में—खेलने-कूदने में, हँसने-रोने में, लड़ने-भिड़ने में, नाचने-गाने में, बालकों की क्रीड़ा में, दांपत्य प्रेम में, राज्य-संचालन में, आज्ञापालन में, आनंदोत्सव में, शोक-समाज में, सुख-दुःख में, घर में, संपत्ति में, विपत्ति में—उसे दिखाई पड़ते हैं। विवाह आदि शुभ अवसरों पर, तुलसी-रचित राम के मंगल-गीत गाए जाते हैं, विमाताओं की कुटिलता के प्रसंग में कैकेयी की कहानी कही जाती है, दुःख के दिनों में राम का वनवास स्मरण किया जाता है, वीरता के प्रसंग में उनके धनुष की भीषण टंकार सुनाई पड़ती है; सारांश यह कि सारा हिंदू-जीवन राम-मय प्रतीत होता है। वेदांत का परमार्थ तत्त्व समझने की सामर्थ्य न रखनेवाले साधारण लोगों को भी व्यवहार-क्षेत्र में चारों ओर राम ही राम दिखाई देते हैं। इस प्रकार राम के स्वरूप का पूर्ण सामंजस्य हिंदू-हृदय के साथ कर दिया गया है। इस साहचर्य्य से राम के प्रति जो भाव साधारण जनता में प्रतिष्ठित हो गया है उसका लावण्य उसके संपूर्ण जीवन का लावण्य हो गया है। राम के बिना हिंदू-जीवन नीरस है—फीका है। यही रामरस उसका स्वाद बनाए रहा और बनाए रहेगा। राम ही का मुँह देख हिंदू-जनता का इतना बड़ा भाग अपने धर्म और जाति के घेरे में पड़ा रहा। न उसे तलवार हटा सकी, न धन-मान का लोभ, न उपदेशों की तड़क-भड़क। जिन राम को जनता जीवन की प्रत्येक

स्थिति में देखती आई, उन्हें छोड़ना अपने प्रिय से प्रिय परिजन को छोड़ने से कम कष्टकर न था। विदेशी कच्चा रंग एक चढ़ा एक छूटा, पर भीतर जो पक्का रंग था वह बना रहा। हमने चौड़ा मोहरी का पायजामा पहना, आदाब अर्ज किया, पर 'राम राम' न छोड़ा। अब कोट-पतलून पहनकर बाहर "डेम नान्सेंस" कहते हैं पर घर में आते ही फिर वही 'राम राम'। शीरीं-फरहाद और हातिम-ताई के किस्से के सामने हम कर्ण, युधिष्ठिर, नल, दमयंती सबको भूल गए थे, पर राम-चर्चा कुछ करते रहे। कहना न होगा कि इस एक को न छोड़ने से एक प्रकार से सब कुछ बना रहा; क्योंकि इसी एक नाम में हिंदू-जीवन का सारा सार खींचकर रख दिया गया था। इसी एक नाम के अवलंब से हिंदू-जाति के लिये अपने प्राचीन स्वरूप, अपने प्राचीन गौरव के स्मरण की संभावना बनी रही। रामनामामृत पान करके हिंदू-जाति अमर हो गई। इस अमृत को घर घर पहुँचानेवाला भी अमर है। आज जो हम बहुत से 'भारतीय हृदयों' को चीरकर देखते हैं, तो वे अभारतीय निकलते हैं। पर एक इसी कवि-केसरी को भारतीय सभ्यता, भारतीय रीति-नीति की रक्षा के लिये सबके हृदय-द्वार पर अड़ा देख हम निराश होने से बच जाते हैं।

मंगलाशा

शुद्ध आत्म-पक्ष के विचार से दुःखवाद स्वीकार करते हुए भी, साधकों के लिये ज्ञान द्वारा उस दुःख की निवृत्ति मानते हुए भी, वे लोक के कल्याण के पूरे प्रयासी थे। लोक के मंगल की आशा से उनका हृदय परिपूर्ण और प्रफुल्ल था। इस आशा का आधार थी वह मंगलमयी ज्योति जो धर्म के रूप में जगत् की प्रातिभासिक सत्ता के भीतर आनंद का आभास देती है और उसकी रक्षा द्वारा सत् का—अपने नित्यत्व का—बोध कराती है। लोक की रक्षा 'सत्' का आभास है, लोक का मंगल 'परमानंद' का आभास है। इस व्यावहारिक 'सत्' और 'आनंद' का प्रतीक है "रामराज्य" जिसमें उस मर्य्यादा की पूर्ण प्रतिष्ठा है जिसके उल्लंघन से इस सत् और आनंद का आभास भी व्यवधान में पड़ जाता है। पर यह व्यवधान सब दिन नहीं रह सकता। अंत में सत् अपना प्रकाश करता है, इस बात का पूर्ण विश्वास तुलसीदासजी ने प्रकट किया है। इस व्यवधान-काल का निरीक्षण लोक की वर्तमान दशा के रूप में वे अत्यंत भय और आकुलता के साथ इस प्रकार करते हैं—

प्रभु के बचन बेद-बुध-सम्मत मम मूरति महिदेव मई है।
तिन्हकी मति, रिस, राग, मोह, मद लोभ लालची लीलि लई है॥
राज-समाज कुसाज, कोटि कटु कलपत कलुष कुचाल नई है।
नीतिप्रतीति प्रीति-परिमिति पति हेतुवाद हठि हेरि हई है॥
आश्रम-बरन-धरम-बिरहित जग, लोक-बेद मरजाद गई है।
प्रजा पतित पाखंड-पापरत, अपने अपने रंग रई है॥
सांति सत्य सुभ रीति गई घटि, बढ़ी कुरीति कपट-कलई है।
सीदत साधु, साधुता सोचति, खल बिलसत, हुलसति खलई है॥

पर इस भीषण दृश्य से गोस्वामीजी निराश नहीं होते। सच्चे भक्त के हृदय में नैराश्य कहाँ ? जिसे धर्म की शक्ति पर, धर्म-स्वरूप भगवान् की अनंत करुणा पर पूर्ण विश्वास है, नैराश्य का दुःख उसके पास नहीं फटक सकता। अतः गोस्वामीजी रामराज्य स्थापन करने के लिये राम से विनती करते हैं—

"दीजै दादि देखि नाते बलि मही मोद-मंगल-रितई है।"

प्रार्थना के साथ ही अपने विश्वास के बल पर वे मान लेते हैं कि प्रार्थना सुन ली गई, "रामराज्य' हो गया, लोक में फिर मंगल छा गया—

भरे भाग अनुराग लोग कहैं राम अवध चितवनि चितई है।
बिनती सुनि सानंद हेरि हँसि करुणा-बारि भूमि भिजई है॥
रामराज भयो काज सगुन सुभ राजा राम जगत-बिजई है।
समरथ बड़ो सुजान सुसाहब सुकृत-सेन हारत जितई है॥

लोक में जब जब सुकृत की सेना हारने लगेगी, अधर्म की सेना प्रबल पड़ती दिखाई देगी, तब तब भगवान् अपनी शक्ति का, धर्म-बल का, लोक-बल का प्रकाश करेंगे, ऐसा विश्वास सच्चे भक्त को रहता है। अतः आशा और आनंद से उसका हृदय परिपूर्ण रहता है।

लोक-नीति और मर्य्यादावाद

गोस्वामीजी का समाज का आदर्श वही है जिसका निरूपण वेद, पुराण, स्मृति आदि में है; अर्थात् वर्णाश्रम की पूर्ण प्रतिष्ठा। प्रोत्साहन और प्रतिबंध द्वारा मन, वचन और कर्म को व्यवस्थित रखनेवाला तत्त्व धर्म है जो दो प्रकार का है—साधारण और विशेष। मनुष्य मात्र का मनुष्य मात्र के प्रति जो सामान्य कर्त्तव्य होता है, उसके अतिरिक्त स्थिति या व्यवसाय-विशेष के अनुसार भी मनुष्य के कुछ कर्तव्य होते हैं। जैसे माता-पिता के प्रति पुत्र का, पुत्र के प्रति पिता का, राजा के प्रति प्रजा का, गुरु के प्रति शिष्य का, ग्राहक के प्रति दूकानदार का, छोटों के प्रति बड़ों का इत्यादि इत्यादि। ज्यों ज्यों सभ्यता बढ़ी है, समाज में वर्ण-विधान हुआ है, त्यों त्यों इन धर्मों का विस्तार होता गया है। पारिवारिक जीवन में से निकलकर समाज में जाकर उनकी अनेक रूपों में प्रतिष्ठा हुई है। संसार के और देशों में जो मत प्रवर्तित हुए, उनमें 'साधारण धर्म' का ही पूर्ण समावेश हो सका, विशेष धर्मों की बहुत कम व्यवस्था हुई। पर सरस्वती और दृशद्वती के तटों पर पल्लवित आर्य-सभ्यता के अंतर्गत जिस धर्म का प्रकाश हुआ, विशेष धर्मों की विस्तृत व्यवस्था उसका लक्षण हुआ और वह वर्णाश्रम-धर्म कहलाया। उसमें लोक-संचालन के लिये ज्ञानबल, बाहुबल, धनबल और सेवा-बल का सामंजस्य घटित हुआ जिसके अनुसार केवल कर्मों की ही नहीं, वाणी और भाव की भी व्यवस्था की गई। जिस प्रकार ब्राह्मण के धर्म पठन-पाठन, तत्त्वचिंतन, यज्ञादि हुए, उसी प्रकार शांत और मृदु वचन तथा उपकार-बुद्धि, नम्रता, दया, क्षमा आदि भावों का अभ्यास भी। क्षत्रियों के लिये जिस प्रकार शस्त्र-ग्रहण

धर्म हुआ, उसी प्रकार जनता की रक्षा, उसके दुःख से सहानुभूति आदि भी। और वर्णों के लिये जिस प्रकार अपने नियत व्यवसायों का संपादन कर्तव्य ठहराया गया, उसी प्रकार अपने से ऊँचे कर्तव्य-वालों अर्थात् लोकरक्षा द्वारा भिन्न भिन्न व्यवसायों का अवसर देने-वालों के प्रति आदर-सम्मान का भाव भी। वचन-व्यवस्था और भाव-व्यवस्था के बिना कर्म-व्यवस्था निष्फल होती। हृदय का योग जब तक न होगा, तब तक न कर्म सच्चे होंगे, न अनुकूल वचन निकलेंगे। परिवार में जिस प्रकार ऊँची-नीची श्रेणियाँ होती हैं, उसी प्रकार शील, विद्या-बुद्धि, शक्ति आदि की विचित्रता से समाज में भी नीची-ऊँची श्रेणियाँ रहेंगी। कोई आचार्य होगा कोई शिष्य, कोई राजा होगा कोई प्रजा, कोई अफसर होगा कोई मातहत, कोई सिपाही होगा कोई सेनापति। यदि बड़े छोटों के प्रति दुःशील होकर हर समय दुर्वचन कहने लगें, यदि छोटे बड़ों का आदर-सम्मान छोड़कर उन्हें आँख देखाकर डाँटने लगें तो समाज चल ही नहीं सकता। इसी से शूद्रों का द्विजों को आँख दिखाकर डाँटना, मूर्खों का विद्वानों का उपहास करना गोस्वामीजी को समाज की धर्म-शक्ति का ह्रास समझ पड़ा।

ब्राह्मणों की मति को 'मोह, मद, रिस, राग और लोभ' यदि निगल जायँ, राजसमाज यदि नीतिविरुद्ध आचरण करने लगे, शूद्र यदि ब्राह्मणों को आँख दिखाने लगें, अर्थात् अपने अपने धर्म से समाज की सब श्रेणियाँ च्युत हो जायँ, तो फिर से लोकधर्म की स्थापना कौन कर सकता है? गोस्वामीजी कहते हैं 'राज्य' 'सुराज्य' 'रामराज्य'। राज्य की कैसी व्यापक भावना है! आदर्श राज्य केवल बाहर बाहर कर्मों का प्रतिबंधक और उत्तेजक नहीं है, हृदय को स्पर्श करनेवाला है, उसमें लोकरक्षा के अनुकूल भावों की प्रतिष्ठा करनेवाला है। यह धर्मराज्य है—इसका प्रभाव जीवन के छोटे-

बड़े सब व्यापारों तक पहुँचनेवाला है, समस्त मानवी प्रकृति का रंजन करनेवाला है। इस राज्य की स्थापना केवल शरीर पर ही नहीं होती, हृदय पर भी होती है। यह राज्य केवल चलती हुई जड़ मशीन नहीं है—आदर्श व्यक्ति का परिवर्धित रूप है। इसे जिस प्रकार हाथ-पैर हैं, उसी प्रकार हृदय भी है, जिसकी रमणीयता के अनुभव से प्रजा आप से आप धर्म की ओर प्रवृत्त होती है। रामराज्य में—

बयरु न करु काहू सन कोई। राम-प्रताप बिषमता खोई॥
सब नर करहिं परस्पर प्रीती। चलहिँ स्वधर्म-निरत श्रुति-रीती॥

लोग जो वैर छोड़कर परस्पर प्रीति करने लगे, वह क्या राम के 'बाहुबल के प्रताप से', दंडभय से ? दंडभय से लोग इतना ही कर सकते हैं कि किसी को मारें-पीटें नहीं; यह नहीं कि किसी से मन में भी वैर न रखें, सबसे प्रीति रखें। सुशीलता की पराकाष्ठा राम के रूप में हृदयाकर्षिणी शक्ति होकर उनके बीच प्रतिष्ठित थी। उस शक्ति के सम्मुख प्रजा अपने हृदय की सुंदर वृत्तियों को कर-स्वरूप समर्पित करती थी। केवल अर्जित वित्त के प्रदान द्वारा अर्थशक्ति खड़ी करने से समाज को धारण करनेवाली पूर्ण शक्ति का विकास नहीं हो सकता। भारतीय सभ्यता के बीच राजा धर्मशक्तिस्वरूप है, पारस और बाबुल के बादशाहों के समान केवल धनबल और बाहुबल की पराकाष्ठा मात्र नहीं। यहाँ राजा सेवक और सेना के होते हुए भी शरीर से अपने धर्म का पालन करता हुआ दिखाई पड़ता है। यदि प्रजा की पुकार संयोग से उसके कान में पड़ती है, तो वह आप ही रक्षा के लिये दौड़ता है; ज्ञानी महात्माओं को सामने देख सिंहासन छोड़कर खड़ा हो जाता है; प्रतिज्ञा के पालन के लिये शरीर पर अनेक कष्ट झेलता है; स्वदेश की रक्षा के लिये रणक्षेत्र में सबसे आगे दिखाई पड़ता है; प्रजा के सुख-दुःख में

सार्थी होता है; ईश्वरांश लाने जाने पर भी मनुष्यांश नहीं छोड़ता। वह प्रजा के जीवन से दूर बैठा हुआ, उसमें किसी प्रकार का योग न देनेवाला खिलौना या पुतला नहीं है। प्रजा अपने सब प्रकार के उच्च भावों का—त्याग का, शील का, पराक्रम का, सहिष्णुता का, क्षमा का—प्रतिबिंब उसमें देखती है।

राजा के पारिवारिक और व्यावहारिक जीवन को देखने की मजाल प्रजा को थी—देखने की ही नहीं, उस पर टीका-टिप्पणी करने की भी। राजा अपने पारिवारिक जीवन में भी यदि कोई ऐसी बात पावे जो प्रजा को देखने में अच्छी न लगती हो, तो उसका सुधार आदर्श-रक्षा के लिये कर्त्तव्य माना जाता था। सती सीता के चरित्र पर दोषारोप करनेवाले धोबी का सिर नहीं उड़ाया गया; घोर मानसिक व्यथा सहकर भी उस दोष के परिहार का यत्न किया गया। सारांश यह कि माता, पिता, सेवक और सखा के साथ भी जो व्यवहार राजा का हो, वह ऐसा हो जिसकी उच्चता को देख प्रजा प्रसन्न हो, धन्य धन्य कहे। जिस प्रीति और कृतज्ञता के साथ महाराज रामचंद्र ने सुग्रीव, विभीषण और निषाद आदि को बिदा किया, उसे देख प्रजा गद्गद हो गई—

रघुपति-चरित देखि पुरवासी। पुनि पुनि कहहिं धन्य सुखरासी॥

राजा की शील-शक्ति के प्रभाव के वर्णन में गोस्वामीजी ने कवि-प्रथा के अनुसार कुछ अतिशयोक्ति भी की ही है—

फूलहिं फलहिं सदा तरु कानन। रहहिं एक सँग गज पंचानन॥
खग मृग सहज बयरु बिसराई। सबन्हि परस्पर प्रीति बढ़ाई॥

काव्य-पद्धति से परिचित इसे पढ़कर कभी यह सवाल नहीं करेंगे कि मृगों का मारना छोड़ सिंह क्या घास खाकर जीते थे?

देखिए, राजकुल की महिलाओं के इस उच्च आदर्श का प्रभाव जनता के पारिवारिक जीवन पर कैसा सुखद पड़ सकता है—

जद्यपि गृह सेवक सेवकिनी। बिपुल सकल सेवा-बिधि गुनी ॥
निज कर गृहपरिचरजा करई। रामचंद्र आयसु अनुसरई ॥

जिस वर्णाश्रम-धर्म का पालन प्रजा करती थी, उसमें ऊँची-नीची श्रेणियाँ थीं; उसमें कुछ काम छोटे माने जाते थे, कुछ बड़े। फावड़ा लेकर मिट्टी खोदनेवाले और कलम लेकर वेदांतसूत्र लिखनेवाले के काम एक ही कोटि के नहीं माने जाते थे। ऐसे दो काम अब भी एक दृष्टि से नहीं देखे जाते। लोक-दृष्टि उनमें भेद कर ही लेती है। इस भेद को किसी प्रकार की चिकनी-चुपड़ी भाषा या पाषंड नहीं मिटा सकता। इस भेद के रहते भी—

बरनाश्रम निज निज धरम निरत बेद-पथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुख नहिं भय सोक न रोग ॥

छोटे समझे जानेवाले काम करनेवाले बड़े काम करनेवालों को ईर्ष्या और द्वेष की दृष्टि से क्यों नहीं देखते थे? वे यह क्यों नहीं कहते थे कि 'हम क्यों फावड़ा चलावें, क्यों दूकान पर बैठें? भूमि के अधिकारी क्यों न बनें? गद्दी लगाकर धर्म-सभा में क्यों न बैठें?' समाज को अव्यवस्थित करनेवाले इस भाव को रोकनेवाली पहली बात तो थी समाज के प्रति कर्त्तव्य के भार का नीची श्रेणियों में जाकर क्रमश: कम होना। ब्राह्मणों और क्षत्रियों को लोकहित के लिये अपने व्यक्तिगत सुख का हर घड़ी त्याग करने के लिये तैयार रहना पड़ता था। ब्राह्मणों को तो सदा अपने व्यक्तिगत सांसारिक सुख की मात्रा कम रखनी पड़ती थी। क्षत्रियों को अवसर-विशेष पर अपना सर्वस्व—अपने प्राण तक—छोड़ने के लिये उद्यत होना पड़ता था। शेष वर्गों को अपने व्यक्तिगत या पारिवारिक सुख की व्यवस्था के लिये सब अवस्थाओं में पूरा अवकाश रहता था। अत: उच्च वर्गों में अधिक मान या अधिक अधिकार के साथ अधिक कठिन कर्त्तव्यों की योजना और निम्न वर्गों में कम

मान और कम सुख के साथ अधिक अवस्थाओं में आराम की योजना जीवन-निर्वाह की दृष्टि से स्थिति में सामंजस्य रखती थी।

जब तक उच्च श्रेणियों के कर्त्तव्य की कठिनता प्रत्यक्ष रहेगी—कठिनता के साक्षात्कार के अवसर आते रहेंगे—तब तक नीची श्रेणियों में ईर्ष्या-द्वेष का भाव नहीं जाग्रत हो सकता। जब तक वे क्षत्रियों को अपने चारों ओर धन-जन की रक्षा में तत्पर देखेंगे, ब्राह्मणों को ज्ञान की रक्षा और वृद्धि में सब कुछ त्यागकर लगे हुए पावेंगे, तब तक वे अपना सब कुछ उन्हीं की बदौलत समझेंगे और उनके प्रति उनमें कृतज्ञता, श्रद्धा और मान का भाव बना रहेगा। जब कर्त्तव्य-भाग शिथिल पड़ेगा और अधिकार-भाग ज्यों का त्यों रहेगा, तब स्थिति-विघातिनी विषमता उत्पन्न होगी। ऊँची श्रेणियों के अधिकार-प्रयोग में ही प्रवृत्त होने से नीची श्रेणियों को क्रमशः जीवन-निर्वाह में कठिनता दिखाई देगी। वर्ण-व्यवस्था की छोटाई-बड़ाई का यह अभिप्राय नहीं था कि छोटी श्रेणी के लोग दुःख ही में समय काटें और जीवन के सारे सुभीते बड़ी श्रेणी के लोगों को ही रहें। रामराज्य में सब अपनी स्थिति में प्रसन्न थे—

नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहिं कोउ अबुध न लच्छन-हीना॥
सब निर्दंभ धरमरत पुनी। नर अरु नारि चतुर सब गुनी॥
सब गुनज्ञ पंडित सब ग्यानी। सब कृतज्ञ नहिं कपट सयानी॥

इतनी बड़ी जनता के पूर्ण सुख की व्यवस्था साधारण परिश्रम का काम नहीं है; पर राजा के लिये वह आवश्यक है—

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृप अवसि नरक-अधिकारी॥

ऊँची श्रेणियों के कर्त्तव्य की पुष्ट व्यवस्था न होने से ही योरप में नीची श्रेणियों में ईर्ष्या, द्वेष और अहंकार का प्राबल्य हुआ जिससे लाभ उठाकर 'लेनिन' अपने समय में महात्मा बना रहा। समाज की ऐसी वृत्तियों पर स्थित 'माहात्म्य' का स्वीकार घोर अमंगल का

सूचक है। मूर्ख जनता के इस माहात्म्य-प्रदान पर न भूलना चाहिए, यह बात गोस्वामीजी साफ साफ कहते हैं—

> तुलसी भेड़ी की धँसनि, जड़ जनता-सनमान।
> उपजत ही अभिमान भो, खोवत मूढ़ अपान॥

जड़ जनता के सम्मान का पात्र वही होगा जो उसके अनुकूल कार्य्य करेगा। ऐसा कार्य्य लोक-मंगलकारी कभी नहीं हो सकता। जनता के किसी भाग की दुर्वृत्तियों के सहारे जो व्यवस्था स्थापित होगी, उसमें गुण, शील, कला-कौशल, बल-बुद्धि के असामान्य उत्कर्ष की संभावना कभी नहीं रहेगी, प्रतिभा का विकास कभी नहीं होगा। रूस से भारी भारी विद्वानों और गुणियों का भागना इस बात का आभास दे रहा है। अल्प शक्तिवालों की अहंकार-वृत्ति को तुष्ट करनेवाला 'साम्य' शब्द ही उत्कर्ष का विरोधी है। उत्कर्ष विशेष परिस्थिति में होता है। परिस्थिति-विशेष के अनुरूप किसी वर्ग में विशेषता का प्रादुर्भाव ही उत्कर्ष या विकास कहलाता है, इस बात को आजकल के विकासवादी भी अच्छी तरह जानते हैं। इस उत्कर्ष का विरोधी साम्य जहाँ हो, उसे हमारे यहाँ के लोग 'अंधेर नगरी' कहते आए हैं।

गोस्वामीजी ने कलिकाल का जो चित्र खींचा है, वह उन्हीं के समय का है। उसमें उन्होंने 'साधारण धर्म' और 'विशेष धर्म' दोनों का ह्रास दिखाया है। साधारण धर्म के ह्रास की निंदा तो सबको अच्छी लगती है, पर विशेष धर्म के ह्रास की निंदा—समाज-व्यवस्था के उल्लंघन की निंदा—आजकल की अव्यवस्था को अपने महत्त्व का द्वार समझनेवाले कुछ लोगों को नहीं सुहाती। वे इन चौपाइयों में तुलसीदासजी की संकीर्ण-हृदयता देखते हैं—

> निराचार जो स्रुतिपथ त्यागी। कलिजुग सोइ ग्यानी बैरागी॥
> सूद्र द्विजन्ह उपदेसहिं ग्याना। मेलि जनेऊ लेहिं कुदाना॥

जे बरनाधम तेलि कुम्हारा। स्वपच किरात कोल कलवारा॥
नारि मुई घर संपति नासी। मूँड़ मुड़ाइ होहिं संन्यासी॥
ते बिप्रन सन पाँव पुजावहिं। उभय लोक निज हाथ नसावहिं॥
सूद्र करहिं जप तप ब्रत दाना। बैठि बरासन कहहिं पुराना॥

पर इसी प्रसंग में गोस्वामीजी के इस कथन को वे बड़े आनंद से स्वीकार करते हैं—

बिप्र निरच्छर लोलुप कामी। निराचार सठ बृषली-स्वामी॥

गोस्वामीजी कट्टर मर्य्यादावादी थे, यह पहले कहा जा चुका है। मर्य्यादा का भंग वे लोक के लिये मंगलकारी नहीं समझते थे। मर्य्यादा का उल्लंघन देखकर ही बलरामजी वरासन पर बैठकर पुराण कहते हुए सूत पर हल लेकर दौड़े थे। शूद्रों के प्रति यदि धर्म और न्याय का पूर्ण पालन किया जाय, तो गोस्वामीजी उनके कर्म को ऐसा कष्टप्रद नहीं समझते थे कि उसे छोड़ना आवश्यक हो। यह पहले कहा जा चुका है कि वर्ण-विभाग केवल कर्म-विभाग नहीं है, भाव-विभाग भी है। श्रद्धा, भक्ति, दया, क्षमा आदि उदात्त वृत्तियों के नियमित अनुष्ठान और अभ्यास के लिये भी वे समाज में छोटी बड़ी श्रेणियों का विधान आवश्यक समझते थे। इन भावों के लिये आलंबन ढूँढ़ना एकदम व्यक्ति के ऊपर ही नहीं छोड़ा गया था। इनके आलंबनों की प्रतिष्ठा समाज ने कर दी थी। समाज में बहुत से ऐसे अनुन्नत अंतःकरण के प्राणी होते हैं, जो इन आलंबनों को नहीं चुन सकते। अतः उन्हें स्थूल रूप से यह बता दिया गया कि अमुक वर्ग यह कार्य्य करता है, अतः वह तुम्हारी दया का पात्र है; अमुक वर्ग इस कार्य्य के लिये नियत है, अतः वह तुम्हारी श्रद्धा का पात्र है। यदि उच्च वर्ग का कोई मनुष्य अपने धर्म से च्युत है, तो उसकी विगर्हणा, उसके शासन और उसके सुधार का भार राज्य के या उसके वर्ग के ऊपर है, निम्न वर्ग के लोगों पर नहीं।

अतः लोक-मर्य्यादा की दृष्टि से निम्न वर्ग के लोगों का धर्म यही है कि उस पर श्रद्धा का भाव रखें; न रख सकें तो कम से कम प्रकट करते रहें। इसे गोस्वामीजी का Social discipline समझिए। इसी भाव से उन्होंने प्रसिद्ध नीतिज्ञ और लोक-व्यवस्थापक चाणक्य का यह वचन—

पतितोऽपि द्विजः श्रेष्ठो न च शूद्रो जितेन्द्रियः।

अनुवाद करके रख दिया है—

पूजिय बिप्र सील-गुन-हीना। सूद्र न गुन-गन-ग्यान-प्रबीना॥

जिसे कुछ लोग उनका जातीय पक्षपात समझते हैं। जातीय पक्षपात से उस विरक्त महात्मा से क्या मतलब जो कहता है—

लोग कहैं पोचु सो न सोचु न सँकोचु मेरे,
ब्याह न बरेखी जाति पाँति न चहत हौं।

काक भुशुंडि की जन्मांतरवाली कथा द्वारा गोस्वामीजी ने प्रकट कर दिया है कि लोक-मर्य्यादा और शिष्टता के उल्लंघन को वे कितना बुरा समझते थे। काक भुशुंडि अपने शूद्र-जन्म की बात कहते हैं—

एक बार हरि-मंदिर जपत रहेउँ सिव-नाम।
गुरु आएउ अभिमान तें उठि नहिं कीन्ह प्रनाम॥
गुरु दयालु नहिं कछु कहेउ उर न रोष लवलेस।
अति अघ गुरु अपमानता सहि नहिं सके महेस॥
मंदिर माँझ भई नभ-बानी। रे हतभाग्य अग्य अभिमानी॥
जद्यपि तव गुरु के नहिं क्रोधा। अति कृपालु उर सम्यक बोधा॥
तदपि साप हठि देइहउँ तोहीं। नीति-बिरोध सुहाइ न मोहीं॥
जौ नहिं दंड करौं सठ तोरा। भ्रष्ट होइ स्रुति-मारग मोरा॥

श्रुति-प्रतिपादित लोक-नीति और समाज के सुख का विधान करनेवाली शिष्टता के ऐसे भारी समर्थक होकर वे अशिष्ट संप्रदायों

की उच्छृंखलता, बड़ों के प्रति उनकी अवज्ञा चुपचाप कैसे देख सकते थे ?

ब्राह्मण और शूद्र, छोटे और बड़े के बीच कैसा व्यवहार वे उचित समझते थे, यह चित्रकूट में वशिष्ठ और निषाद के मिलने में देखिए—

प्रेम पुलकि केवट कहि नामू। कीन्ह दूरि तें दंड प्रनामू॥
रामसखा ऋषि बरबस भेंटा। जनु महि लुठत सनेह समेटा॥

केवट अपनी छोटाई के विचार से वशिष्ठ ऐसे ऋषीश्वर को दूर ही से प्रणाम करता है, पर ऋषि अपने हृदय की उच्चता का परिचय देकर उसे बार बार गले लगाते हैं। वह हटता जाता है, वे उसे 'बरबस' भेंटते हैं। इस उच्चता से किस नीच को द्वेष हो सकता है ? यह उच्चता किसे खलनेवाली हो सकती है ?

काक भुशुंडिवाले मामले में शिवजी ने शाप देकर लोकमत की रक्षा की और काक भुशुंडि के गुरु ने कुछ न कहकर साधुमत* का अनुसरण किया। साधुमत का अनुसरण व्यक्तिगत साधन है, लोक-मत लोकशासन के लिये है। इन दोनों का सामंजस्य गोस्वामीजी की धर्मभावना के भीतर है। चित्रकूट में भरत की ओर से वशिष्ठजी जब सभा में प्रस्ताव करने उठते हैं, तब राम से कहते हैं—

भरत-विनय सादर सुनिय करिय बिचार बहोरि।
करब साधुमत, लोकमत नृपनय निगम निचोरि॥

गोस्वामीजी अपने राम या ईश्वर तक को लोकमत के वशीभूत कहते हैं—

लोक एक भाँति को, त्रिलोकनाथ लोकबस,
आपनो न सोच, स्वामी-सोच ही सुखात हौं।

---

* उमा संत कै इहै बड़ाई। मंद करत जो करहिं भलाई॥

जब कि दुनिया एक मुँह से तुलसी को बुरा कह रही है तब उन्हें अपनाने का विचार करके राम बड़े असमंजस में पड़ेंगे। तुलसी के राम स्वेच्छाचारी शासक नहीं; वे लोक के वशीभूत हैं क्योंकि लोक भी वास्तव में उन्हीं का व्यक्त विस्तार है।

अब तक जो कुछ कहा गया, उससे गोस्वामीजी व्यक्तिवाद (Individualism) के विरोधी और लोकवाद (Socialism) के समर्थक से लगते हैं। व्यक्तिवाद के विरुद्ध उनकी ध्वनि स्थान स्थान पर सुनाई पड़ती है; जैसे—

(क) मारग सोइ जा कहँ जो भावा।

(ख) स्वारथ-सहित सनेह सब, रुचि अनुहरत अचार।

पर उनके लोकवाद की भी मर्यादा है। उनका लोकवाद वह लोकवाद नहीं है, जिसका अकांड तांडव रूस में हो रहा है। वे व्यक्ति की स्वतंत्रता का हरण नहीं चाहते जिसमें व्यक्ति इच्छानुसार हाथ-पैर भी न हिला सके; अपने श्रम, शक्ति और गुण का अपने लिये कोई फल ही न देख सके। वे व्यक्ति के आचरण का इतना ही प्रतिबंध चाहते हैं जितने से दूसरों के जीवन-मार्ग में बाधा न पड़े और हृदय की उदात्त वृत्तियों के साथ लौकिक संबंधों का सामंजस्य बना रहे। राजा-प्रजा, उच्च-नीच, धनी-दरिद्र, सबल-निर्बल, शास्य-शासक, मूर्ख-पंडित, पति-पत्नी, गुरु-शिष्य, पिता-पुत्र इत्यादि भेदों के कारण जो अनेकरूपात्मक संबंध प्रतिष्ठित हैं, उनके निर्वाह के अनुकूल मन (भाव), वचन और कर्म की व्यवस्था ही उनका लक्ष्य है; क्योंकि इन संबंधों के सम्यक् निर्वाह से ही वे सबका कल्याण मानते हैं। इन संबंधों की उपेक्षा करनेवाले व्यक्ति-प्राधान्य-वाद के वे अवश्य विरोधी हैं।

समाज की इस आदर्श व्यवस्था के बीच स्त्रियों और शूद्रों का स्थान क्या है, आजकल के सुधारक इसका पता लगाना बहुत

जरूरी समझेंगे। उन्हें यह जानना चाहिए कि तुलसीदासजी कट्टर मर्य्यादावादी थे, कार्य्यक्षेत्रों के प्राचीन विभाग के पूरे समर्थक थे। पुरुषों की अधीनता में रहकर गृहस्थी का कार्य सँभालना ही वे स्त्रियों के लिये बहुत समझते थे। उन्हें घर के बाहर निकालने-वाली स्वतंत्रता को वे बुरा समझते थे। पर यह भी समझ रखना चाहिए कि 'जिमि स्वतंत्र होइ बिगरहिं नारी' कहते समय उनका ध्यान ऐसी ही स्त्रियों पर था जैसी कि साधारणतः पाई जाती हैं, गार्गी और मैत्रेयी की ओर नहीं। उन्हें गार्गी और मैत्रेयी बनाने की चिंता उन्होंने कहीं प्रकट नहीं की है। हाँ, भक्ति का अधिकार जैसे सबको है, वैसे ही उनको भी। मीराबाई को लिखा हुआ जो पद (विनय का) कहा जाता है, उससे प्रकट होता है कि 'भक्तिमार्ग' में सबको उत्साहित करने के लिये वे तैयार रहते थे। इसमें वे किसी बात की रिआयत नहीं रखते थे। रामभक्ति में यदि परिवार या समाज बाधक हो रहा है, तो उसे छोड़ने की राय वे बेधड़क देंगे—पर उन्हीं को जिन्हें वे भक्तिमार्ग में पक्का समझेंगे. सब स्त्रियाँ घरों से निकलकर वैरागियों की सेवा में लग जायँ, यह अभिप्राय उनका कदापि नहीं। स्त्रियों के लिये साधारण उपदेश उनका वही समझना चाहिए जो 'ऋषि-वधू' ने 'सरल मृदु बानी' से सीताजी को दिया था।

उन पर स्त्रियों की निंदा का महापातक लगाया जाता है; पर यह अपराध उन्होंने अपनी विरति की पुष्टि के लिये किया है। उसे उनका वैरागीपन समझना चाहिए। सब रूपों में स्त्रियों की निंदा उन्होंने नहीं की है। केवल प्रमदा या कामिनी के रूप में, दांपत्य-रति के आलंबन के रूप में, की है;—माता, पुत्री, भगिनी आदि के रूप में नहीं। इससे सिद्ध है कि स्त्री-जाति के प्रति उन्हें कोई द्वेष नहीं था। अतः उक्त रूप में स्त्रियों की जो निंदा उन्होंने की है, वह

अधिकतर तो अपने ऐसे और विरक्तों के वैराग्य को दृढ़ करने के लिये; और कुछ लोक की अत्यंत आसक्ति को कम करने के विचार से। उन्होंने प्रत्येक श्रेणी के मनुष्यों के लिये कुछ न कुछ कहा है। उनकी कुछ बातें तो विरक्त साधुओं के लिये हैं, कुछ साधारण गृहस्थों के लिये, कुछ विद्वानों और पंडितों के लिये। अत: स्त्रियों को जो स्थान स्थान पर बुरा कहा है, उसका ठीक तात्पर्य यह नहीं कि वे सचमुच वैसी ही होती हैं; बल्कि यह मतलब है कि उनमें आसक्त होने से बचने के लिये उन्हें वैसा ही मान लेना चाहिए। किसी वस्तु से विरक्त करना जिसका उद्देश्य है, वह अपने उद्देश्य का साधन उसे बुरा कहकर ही कर सकता है। अत: स्त्रियों के संबंध में गोस्वामीजी ने जो कहा है, वह सिद्धांत-वाक्य नहीं है, अर्थवाद मात्र है। पर उद्दिष्ट प्रभाव उत्पन्न करने के लिये इस युक्ति का अवलंबन गोस्वामीजी ऐसे उदार और सरल-प्रकृति के महात्मा के लिये सर्वथा उचित था, यह नहीं कहा जा सकता; क्योंकि स्त्रियाँ भी मनुष्य हैं—निंदा से उनका जी दुख सकता है। स्त्रियों से काम उत्पन्न होता है, धन से लोभ उत्पन्न होता है, प्रभुता से मद उत्पन्न होता है; इसलिये काम, मद, लोभ आदि से बचने की उत्तेजना उत्पन्न करने के लिये वैराग्य का उपदेश देनेवाले कंचन, कामिनी और प्रभुत्व की निंदा कर दिया करते हैं। बस इसी रीति का पालन बाबाजी ने भी किया है। वे थे तो वैरागी ही। यदि कोई संन्यासिनी अपनी बहिनों को काम क्रोध आदि से बचने का उपदेश देने बैठे तो पुरुषों को इसी प्रकार 'अपावन' और 'सब अवगुणों की खान' कह सकती है! पुरुष-पतंगों के लिये गोस्वामीजी ने स्त्रियों को जिस प्रकार दीपशिखा कहा है, उसी प्रकार स्त्री-पतंगियों के लिये वह पुरुषों को भाड़ कहेगी।

सिद्धांत और अर्थवाद में भेद न समझने के कारण ही गोस्वामीजी की बहुत सी उक्तियों को लेकर लोग परस्पर विरोध आदि दिखाया

करते हैं। वे प्रसंग विशेष में कवि के भीतरी उद्देश्य की खोज न करके केवल शब्दार्थ ग्रहण करके तर्क-वितर्क करते हैं। जैसे एक स्थान पर वे कहते हैं—

"सठ सुधरहिं सतसंगति पाई। पारस परसि कुधातु सुहाई॥"

फिर दूसरे स्थान पर कहते हैं—

"नीच निचाई नहिं तजै जो पावैं सतसंग।"

इनमें से प्रथम उक्ति सत्संग की महिमा हृदयंगम कराने के लिये कही गई है और दूसरी उक्ति नीच या शठ की भीषणता दिखाने के लिये। एक का उद्देश्य है सत्संग की स्तुति और दूसरी का दुर्जन की निंदा। अतः ये दोनों कथन सिद्धांतरूप में नहीं हैं, अर्थवाद के रूप में हैं। ये पूर्ण सत्य नहीं हैं, आंशिक सत्य हैं, जिनका उल्लेख कवि, उपदेशक आदि प्रभाव उत्पन्न करने के लिये करते हैं। काव्य का उद्देश्य शुद्ध विवेचन द्वारा सिद्धांत-निरूपण नहीं होता, रसोत्पादन या भाव-संचार होता है। बुद्धि की क्रिया की कविजन आंशिक सहायता ही लेते हैं।

अब रहे शूद्र। समाज चाहे किसी ढंग का हो, उसमें छोटे काम करनेवाले तथा अपनी स्थिति के अनुसार अल्प विद्या, बुद्धि, शील और शक्ति रखनेवाले कुछ न कुछ रहेंगे ही। ऊँची स्थितिवालों के लिये जिस प्रकार इन छोटी स्थिति के लोगों की रक्षा और सहायता करना तथा उनके साथ कोमल व्यवहार करना आवश्यक है, उसी प्रकार इन छोटी स्थितिवालों के लिये बड़ी स्थितिवालों के प्रति आदर और सम्मान प्रदर्शित करना भी। नीची श्रेणी के लोग यदि अहंकार से उन्मत्त होकर ऊँची श्रेणी के लोगों का अपमान करने पर उद्यत हों, तो व्यावहारिक दृष्टि से उच्चता किसी काम की न रह जाय। विद्या, बुद्धि, बल, पराक्रम, शील और वैभव यदि अकारण अपमान से कुछ अधिक रक्षा न कर सकें तो उनका सामा-

जिक मूल्य कुछ भी नहीं। ऊँची नीची श्रेणियाँ समाज में बराबर थीं और बराबर रहेंगी। अत: शूद्र शब्द को नीची श्रेणी के मनुष्य का—कुल, शील, विद्या, बुद्धि, शक्ति आदि सब में अत्यंत न्यून का—बोधक मानना चाहिए। इतनी न्यूनताओं को अलग अलग न लिखकर वर्ण-विभाग के आधार पर उन सबके लिये एक शब्द का व्यवहार कर दिया गया है। इस बात को मनुष्य-जातियों का अनुसंधान करनेवाले आधुनिक लेखकों ने भी स्वीकार किया है कि वन्य और असभ्य जातियाँ उन्हीं का आदर-सम्मान करती हैं जो उनमें भय उत्पन्न कर सकते हैं। यही दशा गँवारों की है। इस बात को गोस्वामीजी ने अपनी इस चौपाई में कहा है—

ढोल, गँवार, शूद्र, पशु, नारी। ये सब ताड़न के अधिकारी॥

जिससे कुछ लोग इतना चिढ़ते हैं। चिढ़ने का कारण है 'ताड़न' शब्द जो ढोल शब्द के योग में आलंकारिक चमत्कार उत्पन्न करने के लिये लाया गया है। 'स्त्री' का समावेश भी सुरुचि-विरुद्ध लगता है; पर वैरागी समझकर उनकी बात का बुरा न मानना चाहिए।

शील-साधना और भक्ति

लोक-मर्यादा-पालन की ओर जनता का ध्यान दिलाने के साथ ही गोस्वामीजी ने अंत:करण की सामान्य से अधिक उच्चता संपादन के लिये शीलोत्कर्ष की साधना का जो अभ्यास-मार्ग मानव-हृदय के बीच से निकाला, वह अत्यंत आलोकपूर्ण और आकर्षक है। शील के असामान्य उत्कर्ष को प्रेम और भक्ति का आलंबन स्थिर करके उन्होंने सदाचार और भक्ति को अन्योन्याश्रित करके दिखा दिया। उन्होंने राम के शील का ऐसा विशद और मर्मस्पर्शी चित्रण किया कि मनुष्य का हृदय उसकी ओर आप से आप आकर्षित हो। ऐसे शील-स्वरूप को देखकर भी जिसका हृदय द्रवीभूत न हो, उसे गोस्वामीजी जड़ समझते हैं। वे कहते हैं—

सुनि सीतापति सील सुभाउ।

मोद न मन, तन पुलक, नयन जल सो नर खेहर खाउ॥

सिसुपन तें पितु मातु बंधु गुरु सेवक सचिव सखाउ।

कहत राम बिधुबदन रिसैाहैं सपनेहु लखेउ न काउ॥

खेलत संग अनुज बालक नित जुगवत अनट अपाउ।

जीति हारि चुचुकारि दुलारत देत दिवावत दाउ॥

सिला साप-संताप-बिगत भइ परसत पावन पाउ।

दई सुगति सो न हेरि हरष हिय, चरन छुए को पछिताउ॥

भवधनु भंजि निदरि भूपति भृगुनाथ खाइ गए ताउ।

छमि अपराध छमाइ पायँ परि इतो न अनत समाउ॥

कह्यौ राज बन दियो नारि-बस गरि गलानि गयो राउ।

ता कुमातु को मन जोगवत ज्यों निज तनु मरम कुघाउ॥

कपि-सेवा बस भए कनौड़े, कह्यौ पवन सुत आउ।
दैबे को न कछू ऋनिया हौं, धनिक तू पत्र लिखाउ॥
अपनाए सुग्रीव-बिभीषन तिन न तज्यो छल-छाउ।
भरत-सभा सनमानि सराहत होत न हृदय अघाउ॥
निज करुना-करतूति भगत पर चपत चलत चरचाउ।
सकृत प्रनाम सुनत जस बरनन सुनत कहत "फिरि गाउ"॥

इस दया, इस क्षमा, इस संकोच-भाव, इस कृतज्ञता, इस विनय, इस सरलता को राम ऐसे सर्व-शक्ति-संपन्न आश्रय में जो लोकोत्तर चमत्कार प्राप्त हुआ है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। शील और शक्ति के इस संयोग में मनुष्य ईश्वर के लोकपालक रूप का दर्शन करके गद्गद हो जाता है। जो गद्गद न हो, उसे मनुष्यता से नीची कोटि में समझना चाहिए। असामर्थ्य के योग में इन उच्च वृत्तियों के शुद्ध स्वरूप का साक्षात्कार नहीं हो सकता। राम में शील की यह अभिव्यक्ति आकस्मिक नहीं—अवसर-विशेष की प्रवृत्ति नहीं—उनके स्वभाव के अंतर्गत है, इसका निश्चय कराने के लिये बाबाजी उसे 'सिसुपन' से लेकर अंत तक दिखाते हैं। यह सुशीलता राम के स्वरूप के अंतर्गत है। जो इस शील-स्वरूप पर मोहित होगा, वही राम पर पूर्ण रूप से मुग्ध हो सकता है।

भगवान् का जो प्रतीक तुलसीदासजी ने लोक के सम्मुख रखा है, भक्ति का जो प्रकृत आलंबन उन्होंने खड़ा किया है, उसमें सौंदर्य्य, शक्ति और शील तीनों विभूतियों की पराकाष्ठा है। सगुणोपासना के ये तीन सोपान हैं जिन पर हृदय क्रमशः टिकता हुआ उच्चता की ओर बढ़ता है। इनमें से प्रथम सोपान ऐसा सरल है कि स्त्री-पुरुष, मूर्ख-पंडित, राजा-रंक सब उस पर अपने हृदय को बिना प्रयास अड़ा देते हैं। इसकी स्थापना गोस्वामीजी ने राम के रूप-माधुर्य्य का अत्यंत मनोहर चित्रण करके की है। शील और शक्ति

से अलग अकेले सौंदर्य्य का प्रभाव देखना हो तो वन जाते हुए राम-जानकी को देखने पर ग्राम-वधुओं की दशा देखिए—

(क) तुलसी रही हैं ठाढ़ो, पाइन गढ़ी सी काढ़ी,
कौन जानै कहाँ तें आई, कौन की, को ही ॥

(ख) बनिता बनी स्यामल गौर के बीच बिलोकहु री सखि ! मोहिं सी ह्वै ।
मग-जोग न, कोमल क्यों चलिहैं ? सकुचाति मही पद-पंकज छ्वै ।
तुलसी सुनि ग्राम-बधू बिथकीं, पुलकीं तन औ चले लोचन च्वै ।
सब भाँति मनोहर मोहन रूप, अनूप हैं भूप के बालक द्वै ॥

यह सौंदर्य्य उन भोली स्त्रियों की दया को कैसा आकर्षित करता है। वे खड़ी खड़ी पछताती हैं कि—

पायँन तौ पनहीं न, पयादेहिं क्यों चलिहैं ? सकुचात हियो है ।

ऐसी अनंत रूपराशि के सामीप्य-लाभ के लिये, उसके प्रति सुहृद्-भाव प्रदर्शित करने के लिये जी ललचता है। ग्रामीण स्त्रियों ने जिनके अलौकिक रूप को देखा, अब उनके वचन सुनने को वे उत्कंठित हो रही हैं—

धरि धीर कहैं "चलु देखिय जाइ जहाँ सजनी ! रजनी रहिहैं ।
सुख पाइहैं कान सुने बतियाँ, कल आपुस में कछु पै कहिहैं ॥"

परिचय बढ़ाने की इस उत्कंठा के साथ 'आत्मत्याग' की भी प्रेरणा आप से आप हो रही है; और वे कहती हैं—

"कहिहै जग पोच, न सोच कछू, फल लोचन आपन तौ लहिहैं ।"

कैसे पवित्र प्रेम का उद्गार है ! इस प्रेम में काम-वासना का कुछ भी लेश नहीं है। राम-जानकी के दांपत्य-भाव को देख वे गद्गद हो रही हैं—

"सीस जटा, उर बाहु बिसाल, बिलोचन लाल, तिरीछी सी भौंहैं ।
तून, सरासन, बान धरे, तुलसी बन-मारग में सुठि सोहैं ॥

सादर बारहिं बार सुभाय चितै तुम त्यौं हमरो मन मोहैं।"
पूछति ग्रामबधू सिय सों "कहौ साँवरे से, सखि, रावरे को हैं?"

"चितै तुम त्यौं हमरो मन मोहैं" कैसा भाव-गर्भित वाक्य है! इसमें एक ओर तो राम के आचरण की पवित्रता और दूसरी ओर ग्राम-वनिताओं के प्रेमभाव की पवित्रता दोनों एक साथ झलकती हैं। राम सीता की ओर ही देखते हैं, उन स्त्रियों की ओर नहीं। उन स्त्रियों की ओर ताकते तो वे कहतीं कि "चितै हम त्यौं हमरो मन मोहैं"। उनके मोहित होने को हम कुछ कुछ कृष्ण की चितवन पर गोपियों के मोहित होने के समान ही समझते। अत: 'हम' के स्थान पर इस 'तुम' शब्द में कोई स्थूल दृष्टि से चाहे 'असंगति' का ही चमत्कार देख संतोष कर ले, पर इसके भीतर जो पवित्र भाव-व्यंजना है, वही सारे वाक्य का सर्वस्व है।

इस सौंदर्य्य-राशि के बीच में शील की थोड़ी सी मृदुल आभा भी गोस्वामीजी दिखा देते हैं—

सुनि सुचि सरल सनेह सुहावने ग्राम-बधुन्ह कै बैन।
तुलसी प्रभु तरु-तर बिलँब, किए प्रेम-कनौड़े कै न॥

यह 'सुचि सरल सनेह' तुरंत समाप्त नहीं हो गया, बहुत दिनों तक बना रहा—कौन जाने जीवन भर बना रहा हो। राम के चले जाने पर बहुत दिनों पीछे तक, जान-पहचान न होते हुए भी, उनकी चर्चा चलती रही—

बहुत दिन बीते सुधि कछु न लही।
गए जे पथिक गोरे साँवरे सलोने, सखि! संग नारि सुकुमारि रही॥
जानि-पहिचानि बिनु आपु तें, आपुने हु ते, प्रानहूँ तें प्यारे प्रियतम उपही।
बहुरि बिलोकिबे कबहुँक कहत, तनु पुलक, नयन जलधार बही॥

जिसके सौंदर्य्य पर ध्यान टिक गया, जिसके प्रति प्रेम का प्रादुर्भाव हो गया, उसकी और बातों में भी जी लगने लगता है।

उसमें यदि बल, पराक्रम आदि भी दिखाई दे तो उस बल-पराक्रम के महत्त्व का अनुभव हृदय बड़े आनंद से करता है। गोस्वामीजी ने राम के अलौकिक सौंदर्य्य का दर्शन कराने के साथ ही उनकी अलौकिक शक्ति का भी साक्षात्कार कराया है। ईश्वरावतार उस राम से बढ़कर शक्तिमान् विश्व में कौन हो सकता है ' लव निमेष पर-मान जुग, काल जासु कोदंड ।" इस अनंत सौंदर्य्य और अनंत शक्ति में अनंत शील की योजना हो जाने से भगवान् का सगुण रूप पूर्ण हो जाता है। 'शील' तक आने का कैसा सुगम और मनोहर मार्ग बाबाजी ने तैयार किया है! सौंदर्य्य के प्रभाव से हृदय को वशीभूत करके शक्ति के अलौकिक प्रदर्शन से उसे चकित करते हुए अंत में वे उसे 'शील' या 'धर्म' के रमणीय रूप की ओर आप से आप आकर्षित होने के लिये छोड़ देते हैं। जब इस शील के मनोहर रूप की ओर मनुष्य आकर्षित हो जाता है और अपनी वृत्तियों को उसके मेल में देखना चाहता है, तब जाकर वह भक्ति का अधिकारी होता है। जो केवल बाह्य सौंदर्य्य पर मुग्ध होकर और अपूर्व शक्ति पर चकित होकर ही रह गया, 'शील' की ओर आकर्षित होकर उसकी साधना में तत्पर न हुआ, वह भक्ति का अधिकारी न हुआ। इस अधिकार-प्राप्ति की उत्कंठा गोस्वामीजी ने कैसे स्पष्ट शब्दों में प्रकट की है, देखिए—

कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो ?
श्री रघुनाथ-कृपालु - कृपा त संत-सुभाव गहौंगो ॥
यथा लाभ संतोष सदा, काहू सों कछु न चहौंगो ।
परहित-निरत निरंतर मन क्रम बचन नेम निबहौंगो ॥
परुष बचन अति दुसह श्रवण सुनि तेहि पावक न दहौंगो ।
बिगत मान, सम सीतल मन, पर गुन, नहिं दोख, कहौंगो ॥

परिहरि देह-जनित चिंता, दुख सुख समबुद्धि सहैंगो।
तुलसिदास प्रभु यहि पथ रहि अविचल हरिभक्ति लहैंगो॥

शील-साधना की इस उच्च भूमि में पाठक देख सकते हैं कि विरति या वैराग्य आप से आप मिला हुआ है। पर लोक-कर्त्तव्यों से विमुख करनेवाला वैराग्य नहीं—परहित-चिंतन से अलग करनेवाला वैराग्य नहीं—अपनी पृथक् प्रतीत होती हुई सत्ता को लोकसत्ता के भीतर लय कर देनेवाला वैराग्य, अपनी 'देह-जनित चिता' से अलग करनेवाला वैराग्य। भगवान् ने उत्तरकांड में संतों के संबंध में जो "त्यागहि करम सुभासुभदायक" कहा है, वह "पर-हित" का विरोधी नहीं है। वह गीता में उपदिष्ट निर्लिप्त कर्म का बोधक है। जब साधक भक्ति द्वारा अपनी व्यक्ति का लोक में लय कर चुका, जब फलासक्ति रह ही न गई, तब उसे कर्म स्पर्श कहाँ से करेंगे? उसने अपनी पृथक् प्रतीत होती हुई सत्ता को लोक-सत्ता में—भगवान् की व्यक्त सत्ता में—मिला दिया। भक्ति द्वारा अपनी व्यक्त सत्ता को भगवान् की व्यक्त सत्ता में मिलाना मनुष्य के लिये जितना सुगम है उतना ज्ञान द्वारा ब्रह्म की अव्यक्त सत्ता में अपनी व्यक्त सत्ता को मिलाना नहीं। संसार में रहकर इंद्रियार्थों का निषेध असंभव है; अत: मनुष्य को वह मार्ग ढूँढ़ना चाहिए जिसमें इंद्रियार्थ अनर्थकारी न हों। यह भक्ति-मार्ग है, जिसमें इंद्रियार्थ भी मंगलप्रद हो जाते हैं—

विषयिन्ह कहँ पुनि हरिगुनग्रामा। स्रवन सुखद अरु मन अभिरामा॥

इस प्रकार अपनी व्यक्ति को लोक में लय करना राम में अपने को लय करना है क्योंकि यह जगत् 'सियाराममय' है। जब हम संसार के लिये वही करते हुए पाए जाते हैं जो वह अपने लिये कर रहा है—वह करते हुए नहीं जिसका लक्ष्य उसके लक्ष्य से अलग या

विरुद्ध है—तब मानों हमने अपने अस्तित्व को जगत् को अर्पित कर दिया। ऐसे लोगों को ही जीवन्मुक्त कहना चाहिए।

'शील' और 'भक्ति' का नित्य संबंध गोस्वामीजी ने बड़ी भावुकता से प्रकट किया है। वे राम से कहते हैं कि यदि मेरे ऐसे पतित से संभाषण करने में आपको संकोच हो, तो मन ही मन अपना लीजिए—

प्रन करिहौं हठि आजु तें रामद्वार परयो हौं।
'तू मेरो' यह बिनु कहे उठिहौं न जनम भरि, प्रभु की सौं करि निबरयो हौं॥
प्रगट कहत जौं सकुचिए अपराध भरयो हौं।
तौ मन में अपनाइए तुलसिहि कृपा करि कलि बिलोकि हहरयो हौं॥

फिर यह मालूम कैसे होगा कि आपने मुझे अपना लिया? गोस्वामीजी कहते हैं—

"तुम अपनायो, तब जानिहौं जब मन फिरि परिहै।
सुत की प्रीति, प्रतीति मीत की, नृप ज्यों डर डरिहै॥
हरषिहै न अति आदरे, निदरे न जरि मरिहै।
हानि लाभ दुख सुख सबै सम चित हित अनहित
कलि कुचाल परिहरिहै॥"

जब कलि की सब कुचालें छूट जायँ, बुरे कर्मों से मुँह मुड़ जाय, तब समझूँ कि मुझे भक्ति प्राप्त हुई। जिस भक्ति से यह स्थिति प्राप्त न हो वह भगवद्भक्ति नहीं; और किसी की भक्ति हो तो हो। गोस्वामीजी की 'श्रुति-सम्मत' हरिभक्ति वही है जिसका लक्षण शील है—

प्रीति राम सों, नीति-पथ चलिय, रागरिसि जीति।
तुलसी संतन के मते इहै भगति की रीति॥

शील हृदय की वह स्थायी स्थिति है जो सदाचार की प्रेरणा आप से आप करती है। सदाचार ज्ञान द्वारा प्रवर्त्तित हुआ है या भक्ति द्वारा, इसका पता यों लग सकता है कि ज्ञान द्वारा प्रवर्त्तित जो सदाचार होगा, उसका साधन बड़े कष्ट से—हृदय को पत्थर के नीचे

दबाकर—किया जायगा; पर भक्ति द्वारा प्रवर्त्तित जो सदाचार होगा, उसका अनुष्ठान बड़े आनंद से, बड़ी उमंग के साथ, हृदय से होता हुआ दिखाई देगा। उसमें मन को मारना न होगा, उसे और सजीव करना होगा। कर्त्तव्य और शील का वही आचरण सच्चा है जो आनंदपूर्वक हर्षपुलक के साथ हो—

रामहिं सुमिरत, रन भिरत, देत, परत गुरु-पाय।
तुलसी जिनहिं न पुलकतनु ते जग जीवन जाय॥

शील द्वारा प्रवर्त्तित सदाचार सुगम भी होता है और स्थायी भी; क्योंकि इसका संबंध हृदय से होता है। इस शील-दशा की प्राप्ति भक्ति द्वारा होती है। विवेकाश्रित सदाचार और भक्ति इन दोनों में किसका साधन सुगम है, इस प्रश्न को और साफ करके बाबाजी कहते हैं—

कै तोहिं लागहिं राम प्रिय, कै तू प्रभुप्रिय होहि।
दुइ महँ रुचै जो सुगम सो कीबे तुलसी तोहि॥

या तो तुझे राम प्रिय लगें या राम को तू प्रिय लग, इन दोनों में जो सीधा समझ पड़े सो कर। तुझे राम प्रिय लगें, इसके लिये तो इतना ही करना होगा कि तू राम के मनोहर रूप, गुण, शक्ति और शील को बार बार अपने अंतःकरण के सामने रखा कर; बस राम तुझे अच्छे लगने लगेंगे। शील को शक्ति और सौंदर्य के योग में यदि तू बार बार देखेगा, तो शील की ओर भी क्रमशः आप से आप आकर्षित होगा। तू राम को प्रिय लगे, इसके लिये तुझे स्वयं उत्तम गुणों को धारण करना पड़ेगा और उत्तम कर्मों का संपादन करना पड़ेगा। पहला मार्ग कैसा सुगम है, जो कुछ दूर जाकर दूसरे मार्ग से मिल जाता है और दोनों मार्ग एक हो जाते हैं। ज्ञान या विवेक द्वारा सदाचार की प्राप्ति वे स्पष्ट शब्दों में कठिन बतलाते हैं—

कहत कठिन, समुझत कठिन, साधत कठिन बिबेक।
होइ घुनाच्छर-न्याय जौं पुनि प्रत्यूह अनेक॥

कोई आदमी कुटिल है; सरल कैसे हो? गोस्वामीजी कहते हैं कि राम की सरलता के अनुभव से। राम के अभिषेक की तैयारी हो रही है। इस पर राम सोचते हैं—

जनमे एक संग सब भाई। भोजन, सयन, केलि, लरिकाई॥
बिमल बंस यह अनुचित एकू। बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू॥

भक्तशिरोमणि तुलसीदासजी याचना करते हैं कि राम का यह प्रेमपूर्वक पछताना भक्तों के मन की कुटिलता दूर करे—

प्रभु सप्रेम पछितानि सुहाई। हरउ भगत-मन कै कुटिलाई॥

राम की ओर प्रेम की दृष्टि पड़ते ही मनुष्य पापों से विमुख होने लगता है। जो धर्म के स्वरूप पर मुग्ध हो जायगा, वह अधर्म की ओर फिर भरसक नहीं ताकने जायगा। भगवान् कहते हैं—

सनमुख होइ जीव मोहिं जबहीं। जनम कोटि अघ नासहिं तबहीं॥
पापवंत कर सहज सुभाऊ। भजन मोर तेहि भाव न काऊ॥

राम के शील के अंतर्गत "शरणागत की रक्षा" को गोस्वामीजी ने बहुत प्रधानता दी है। यह वह गुण है जिसे देख पापी से पापी भी अपने उद्धार की आशा कर सकता है। ईसा ने भी पापियों को निराश होने से बचाया था। भक्तिमार्ग के लिये यह आशा परम आवश्यक है। इसी "शरण-प्राप्ति" की आशा बँधाने के लिये बाबाजी ने कुछ ऐसे पद्य कहे हैं जिनसे लोग सदाचार की उपेक्षा समझते हैं; जैसे—

बंधु-बधू-रत कहि कियो बचन निरुत्तर बालि।
तुलसी प्रभु सुग्रीव की चितइ न कछू कुचालि॥

इसी प्रकार गणिका, अजामिल आदि का भी नाम वे बार बार लाए हैं। पर उन्होंने भगवान् की भक्त-वत्सलता दिखाने के लिये

ऐसा किया है; यह दिखाने के लिये नहीं कि भक्ति और सदाचार से कोई संबंध ही नहीं है और पाप करता हुआ भी मनुष्य भक्त कहला सकता है। पापियों के उद्धार का मतलब पापियों का सुधार है—ऐसा सुधार जिससे लोक और परलोक दोनों बन सकते हैं। गोस्वामीजी द्वारा प्रतिपादित रामभक्ति वह भाव है जिसका संचार होते ही अंतःकरण बिना कष्ट के शुद्ध हो जाता है—सारा कल्मष, सारी मलिनता आपसे आप छूटने लगती है। अंतःकरण की पूर्ण शुद्धि भक्ति के बिना नहीं हो सकती, अपना यह सिद्धांत उन्होंने कई जगह प्रकट किया है—

नयन मलिन परनारि निरखि, मन मलिन बिषय सँग लागे।
हृदय मलिन बासना मान मद जीव सहज सुख त्यागे॥
पर-निंदा सुनि स्रवन मलिन भए, बदन दोष पर गाए।
सब प्रकार मल-भार लाग निज नाथ चरन बिसराए॥
तुलसिदास ब्रत दान ग्यान तप सुद्धि हेतु स्रुति गावै।
रामचरन-अनुराग-नीर बिनु मल अति नास न पावै॥

जब तक भक्ति न हो तब तक सदाचार को गोसाईंजी स्थायी नहीं समझते। मनुष्य के आचरण में शुद्ध ज्ञान द्वारा वह दृढ़ता नहीं आ सकती जो भक्ति द्वारा प्राप्त होती है—

कबहुँ जोग-रत भोग-निरत सठ हठ बियोग-बस होई।
कबहुँ मोह-बस द्रोह करत बहु कबहुँ दया अति सोई॥
कबहुँ दीन मतिहीन रंकतर, कबहुँ भूप अभिमानी।
कबहुँ मूढ़, पंडित बिडंबरत, कबहुँ धरमरत ग्यानी॥
संजम जप तप नेम धरम ब्रत बहु भेषज समुदाई।
तुलसिदास भवरोग रामपद-प्रेम-हीन नहिं जाई॥

इसी से उन्होंने भक्ति के बिना शील आदि सब गुणों को निराधार और नीरस कहा है—

सूर सुजान सपूत सुलच्छन गनियत गुन गरुआई ।
बिनु हरिभजन इँदारुन के फल तजत नहीं करुआई ।।
कीरति कुल करतूति भूति भलि, सील सरूप सलोने ।
तुलसी प्रभु-अनुराग-रहित जस सालन साग अलोने ।।

भक्ति की आनंदमयी प्रेरणा से शील की ऊँची से ऊँची अवस्था की प्राप्ति आप से आप हो जाती है और मनुष्य 'संत' पद को पहुँच जाता है। इस प्रेरणा में रूप, गुण, शील, बल सब के प्रभाव का योग रहता है। इसी प्रकार के प्रभाव से—

भए सब साधु किरात किरातिनि, रामदरस मिटि गइ कलुषाई ।।

ज्ञान और भक्ति

यहाँ तक तो भक्ति और शील का समन्वय हुआ; अब ज्ञान और भक्ति का समन्वय देखिए। गरुड़ को समझाते हुए काक भुशुंडि कहते हैं—

"ज्ञानहिं भगतिहि नहिं कछु भेदा।"

साध्य की एकता से भक्ति और ज्ञान दोनों एक ही हैं—

उभय हरहिं भव-संभव खेदा।

पहले कहा जा चुका है कि शक्ति, शील और सौंदर्य्य की पराकाष्ठा भगवान् का व्यक्त या सगुण स्वरूप है। इनमें से सौंदर्य्य और शील भगवान् के लोक-पालन और लोक-रंजन के लक्षण हैं और शक्ति उद्भव और लय का लक्षण है। जिस शक्ति की अनंतता पर भक्त केवल चकित होकर रह जायगा, ज्ञानी उसके मूल तक जाने के लिये उत्सुक होगा। ईश्वर ज्ञान-स्वरूप है, अतः ज्ञान के प्रति यह औत्सुक्य भी ईश्वर ही के प्रति है। यह औत्सुक्य भी भक्ति के समान एक 'भाव' ही है, या यों कहिए कि भक्ति का ही एक रूप है—पर एक ऐसे कठिन क्षेत्र की ओर ले जानेवाला जिसमें कोई बिरला ही ठहर सकता है—

ग्यानपंथ कृपान कै धारा। परत, खगेस! होइ नहिं बारा॥

जो इस कठिन ज्ञानपथ पर निरंतर चला जायगा, उसी को अंत में "सोऽहमस्मि" का अनुभव प्राप्त होगा। पर इस "सोऽहमस्मि" की अखंड वृत्ति तक प्राप्त होने की कठिनता गोस्वामीजी ने बड़ा ही लंबा और पेचीला रूपक बाँधकर दिखाई है। इस तत्त्व की सम्यक् प्राप्ति के पहले सेव्य-सेवक भाव का त्याग अत्यंत अनर्थकारी और दोषजनक है। इसी से गोस्वामीजी सिद्धांत करते हैं कि—

सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिय, उरगारि !

भक्ति और ज्ञान का तारतम्य अत्यंत गूढ़ और रहस्यपूर्ण उक्ति द्वारा गोस्वामीजी ने प्रदर्शित किया है। वे कहते हैं—

ग्यान बिराग जोग बिग्याना। ए सब पुरुष सुनहु हरिजाना॥
माया भगति सुनहु तुम्ह दोऊ। नारिबर्ग जानहिं, सब कोऊ॥
मोह न नारि नारि के रूपा। पन्नगारि! यह रीति अनूपा॥

ज्ञान पुरुष अर्थात् चैतन्य है और भक्ति सत्त्वस्थ प्रकृति-स्वरूपा है। दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि 'ज्ञान' बोधवृत्ति और भक्ति रागात्मिका वृत्ति है। बोधवृत्ति राग के द्वारा आक्रांत हो सकती है, पर एक राग दूसरे राग को दूर रखता है। सत्त्वस्थ राग यदि दृढ़ हो जायगा तो राजस और तामस दोनों रागों को दूर रखेगा। रागात्मिका वृत्ति को मार डालना तो बात ही बात है। अत. उसे एक अच्छी जगह टिका देना चाहिए—ऐसी जगह टिका देना चाहिए जहाँ से वह न लोक-धर्म के पालन में, न शील की उच्च साधना में और न ज्ञान के मार्ग में बाधक हो सके। इसके लिये भगवान् के सगुण रूप से बढ़कर और क्या आलंबन हो सकता है जिसमें शील, शक्ति और सौंदर्य्य तीनों परमावस्था को प्राप्त होते हैं—

राम काम सत कोटि सुभग तन। दुर्गा कोटि अमित अरि मर्दन॥
मरुत कोटि सत बिपुल बल, रबि सत कोटि प्रकास।
ससि सत कोटि सो सीतल समन सकल भव-त्रास॥
काल कोटि सत सरिस अति दुस्तर दुर्ग दुरंत।
धूमकेतु सत कोटि सम, दुराधर्ष भगवंत॥

यद्यपि कथा के प्रसंग में राम विष्णु के अवतार ही कहे गए हैं, पर भक्त की अनन्य भावना में वे देव-कोटि से भी परे हैं—

विष्णु कोटि सम पालन-करता। रुद्र कोटि सत सम संहरता॥

इस नाम-रूपात्मक जगत् के बीच परमार्थ-तत्त्व का शुद्ध स्वरूप पूरा पूरा निरूपित नहीं हो सकता। ऐसे निरूपण में अज्ञान का लेश अवश्य रहेगा; या यों कहिए कि अज्ञान ही के सहारे वह बोधगम्य होगा। अज्ञान् अर्थात् दृश्य जगत् के शब्दों में ही यह निरूपण होगा—चाहे निषेधात्मक ही हो। निषेध मात्र से स्वरूप तक पहुँच नहीं हो सकती। हम किसी का मकान ढूँढ़ने में हैरान हैं। कोई हमें मकान दिखाने के लिये ले चले और दुनिया भर के मकानों को दिखाता हुआ "यह नहीं है", "यह नहीं है" कहकर बैठ जाय तो हमारा क्या संतोष होगा? प्रकृति के विकार अंतःकरण की क्रिया के स्वरूप को ही अधिकतर हम ज्ञान या शुद्ध-चैतन्य का स्वरूप समझा-समझाया करते हैं। अतः अज्ञान-रहित ज्ञान बात ही बात है। इसी से गोस्वामीजी ललकारकर कहते हैं कि जो अज्ञान बिना ज्ञान या सगुण बिना निर्गुण कह दे, उसके चेले होने के लिये हम तैयार हैं—

ग्यान कहै अग्यान बिनु, तम बिनु कहै प्रकास।
निर्गुन कहै जो सगुन बिनु, सो गुरु, तुलसीदास॥

हमारा ज्ञान भी अज्ञान-सापेक्ष है। हमारी निर्गुण भावना भी सगुण भावना की अपेक्षा रखती है, ठीक उसी प्रकार जैसे प्रकाश की भावना अंधकार की भावना की अपेक्षा रखती है। मानव-ज्ञान के इस सापेक्ष स्वरूप को देखकर आजकल के बड़े बड़े विज्ञान-विशारद इतनी दूर पहुँचकर ठिठक गए हैं। आगे का मार्ग उन्हें दिखाई ही नहीं पड़ता।

तर्क और विवाद को भी गोस्वामीजी एक व्यसन समझते हैं। उसमें भी एक प्रकार का स्वाद या रस होता है। इस प्रकार के अनेक रस इस संसार में हैं। कोई किसी रस में मग्न है, तो कोई किसी में—

जो जो जेहि जेहि रस मगन तहँ सो मुदित मन मानि।
रस-गुन-दोष बिचारिबो रसिक रीति पहिचानि॥

तुलसीदासजी तो सब रसों को छोड़ भक्तिरस की ओर झुकते हैं और अपनी जीभ से वाद-विवाद का स्वाद छोड़ने को कहते हैं—

बाद-बिबाद-स्वाद तजि भजि हरि सरस चरित चित लावहि।

इस रामभक्ति के द्वारा ज्ञानियों का साध्य मोक्ष आप से आप, बिना इच्छा और प्रयत्न के, प्राप्त हो सकता है—

राम भजत सोइ मुक्ति, गुसाईं। अनइच्छत आवइ बरिआईं॥

ज्ञानपक्ष में जाकर गोसाईंजी का सिद्धांत क्या है, इसका पता लगाने के पहले यह समझ लेना चाहिए कि यद्यपि स्थान स्थान पर उन्होंने तत्त्वज्ञान का भी सन्निवेश किया है, पर अपने लिये उन्होंने कोई एक सिद्धांत-मार्ग स्थिर करने का प्रयत्न नहीं किया है। पहली बात तो यह है कि जब वे भक्तिमार्ग के अनुगामी हो चुके, तब ज्ञानमार्ग ढूँढ़ने के लिये तर्क-वितर्क का प्रयत्न क्यों करने जाते? दूसरा कारण उनकी सामंजस्य-बुद्धि है। सांप्रदायिक दृष्टि से तो वे रामानुजाचार्य्य के अनुयायी थे ही जिनका निरूपित सिद्धांत भक्तों की उपासना के बहुत अनुकूल दिखाई पड़ा। उपनिषद्-प्रतिपादित "सोऽहमस्मि" और "तत्त्वमसि" आदि अद्वैत वाक्यों की पारमार्थिकता में विश्वास रखते हुए भी—

गो गोचर जहँ लगि मन जाई। तहँ लगि माया जानेहु भाई॥

कहकर मायावाद का स्वीकार करते हुए भी, कहीं कहीं विशिष्टाद्वैत मत का आभास उन्होंने दिया है; जैसे—

ईश्वर-अंस जीव अबिनासी। चेतन, अमल, सहज, सुखरासी॥
सो मायाबस भयउ गोसाईं। बँधेउ कीर मरकट की नाईं॥

शुद्ध ब्रह्म स्वगत, सजातीय और विजातीय तीनों भेदों से रहित है। किसी वस्तु का अंश उसका 'स्वगत' भेद है; अतः जीव को ब्रह्म

का अंश कहना (ब्रह्म ही न कहना) अद्वैत मत के अनुकूल न होकर रामानुज के विशिष्टाद्वैत के अनुकूल है जिसके अनुसार चिदचिद्विशिष्ट ईश्वर एक ही है। चित् (जीव) और अचित् (जगत्) दोनों ईश्वर के अंग या शरीर हैं। ईश्वर-शरीर के इस सूक्ष्म चित् और सूक्ष्म अचित् से ही स्थूल चित् और स्थूल अचित् अर्थात् अनेक जीवों और जगत् की उत्पत्ति हुई है। इससे यह लक्षित होता है कि परमार्थ-दृष्टि से—शुद्ध ज्ञान की दृष्टि से—तो अद्वैत मत गोस्वामीजी को मान्य है, पर भक्ति के व्यावहारिक सिद्धांत के अनुसार भेद करके चलना वे अच्छा समझते हैं। गरुड़ के ईश्वर और जीव में भेद पूछने पर काक भुशुंडि कहते हैं—

माया-बस्य जीव अभिमानी। ईस-बस्य माया गुन खानी॥
परबस जीव, स्वबस भगवंता। जीव अनेक, एक श्री कंता॥

इतना भेद करके वे परमार्थ-दृष्टि से अद्वैत पक्ष पर आते हुए कहते हैं कि ये भेद यद्यपि मायाकृत हैं—परमार्थतः सत्य नहीं हैं—पर इन्हें मिटाने के लिये ईश्वर को स्वामी मानकर भक्ति करनी पड़ेगी।

मुधा भेद जद्यपि कृत माया। बिनु हरि जाइ न कोटि उपाया॥

व्याप्य-व्यापक की यह एकत्व-भावना भी विशिष्टाद्वैत के अधिक अनुकूल जान पड़ती है—

जो कछु बात बनाइ कहौं, तुलसी तुममें, तुमहूँ उर माहीं।
जानकी-जीवन जानत हौ हम हैं तुम्हरे, तुममें सक नाहीं॥

इसी प्रकार इस नीचे के वाक्य से भी 'अद्वैत' से असंतोष व्यंजित होता है—

जे मुनि ते पुनि आपुहि आपु को ईस कहावत सिद्ध सयाने।

अंत में इस संबंध में इतना कह देना आवश्यक है कि तुलसीदासजी भक्तिमार्गी थे; अतः उनकी वाणी में भक्ति के गूढ़ रहस्यों का ढूँढ़ना ही अधिक फलदायक होगा, ज्ञान-मार्ग के सिद्धांतों का ढूँढ़ना नहीं।

तुलसी की काव्य-पद्धति

काव्य के दो स्वरूप हमें देखने में आते हैं—अनुकृत या प्रकृत (Imitative or realistic) तथा अतिरंजित या प्रगीत (Exaggerative or lyrical)। कवि की भावुकता की सच्ची झलक वास्तव में प्रथम स्वरूप में ही मिलती है। जीवन के अनेक मर्म-पक्षों की वास्तविक अनुभूति जिसके हृदय में समय समय पर जगती रहती है उसी से ऐसे रूप-व्यापार हमारे सामने लाते बनेगा जो हमें किसी भाव में मग्न कर सकते हैं और उसी से उस भाव की ऐसे स्वाभाविक रूप में व्यंजना भी हो सकती है जिसको सामान्यत: सबका हृदय अपना सकता है। अपनी व्यक्तिगत सत्ता की अलग भावना से हटाकर, निज के योग-क्षेम के संबंध से मुक्त करके, जगत् के वास्तविक दृश्यों और जीवन की वास्तविक दशाओं में जो हृदय समय समय पर रमता रहता है, वही सच्चा कवि-हृदय है। सच्चे कवि वस्तु-व्यापार का चित्रण बहुत बढ़ा-चढ़ा और चटकीला कर सकते हैं, भावों की व्यंजना अत्यंत उत्कर्ष पर पहुँचा सकते हैं, पर वास्तविकता का आधार नहीं छोड़ते। उनके द्वारा अंकित वस्तु-व्यापार-योजना इसी जगत् की होती है; उनके द्वारा भाव उसी रूप में व्यंजित होते हैं जिस रूप में उनकी अनुभूति जीवन में होती है या हो सकती है। भारतीय कवियों की मूल प्रवृत्ति वास्तविकता की ओर ही रही है। यहाँ काव्य जीवन-क्षेत्र से अलग खड़ा किया केवल तमाशा ही नहीं रहा है।

काव्य का दूसरा स्वरूप—अतिरंजित या प्रगीत—वस्तु-वर्णन तथा भाव-व्यंजना दोनों में पाया जाता है। कुछ कवियों की प्रवृत्ति रूपों और व्यापारों की ऐसी योजना की ओर होती है जैसी सृष्टि

के भीतर नहीं दिखाई पड़ा करती। उनकी कल्पना कभी स्वर्ण-कमलों से कलित सुधा-सरोवर के कूलों पर मलयानिल-स्पंदित पाटलों के बीच विचरती है, कभी मरकत-भूमि पर खड़े मुक्ता-खचित प्रवाल-भवनों में पुष्पराग और नीलमणि के स्तंभों के बीच हीरे के सिंहासनों पर जा टिकती है, कभी सायं प्रभात के कनक-मेखला-मंडित विविध वर्णमय घन-पटलों के परदे डालकर विकीर्ण तारक-सिकता-कणों के बीच बहती आकाश-गंगा में अवगाहन करती है। इस प्रकार की कुछ रूप-योजनाएँ प्राचीन आख्यानों में रूढ़ होकर पौराणिक (Mythological) हो गई हैं और मनुष्य की नाना जातियों के विश्वास से संबंध रखती हैं। जैसे, सुमेरु पर्वत, सूर्य्य-चंद्र के पहियोंवाला रथ, समुद्र-मंथन, समुद्र-लंघन, सिर पर पहाड़ लादकर आकाश-मार्ग से उड़ना इत्यादि। इन्हें काव्यगत अत्युक्ति या कल्पना की उड़ान के अंतर्गत हम नहीं लेंगे।

काव्य में उपर्युक्त ढंग की रूप-व्यापार-योजना प्रस्तुत (उपमेय) और अप्रस्तुत (उपमान) दोनों पक्षों में पाई जाती है। कुछ कवियों का झुकाव दोनों पक्षों में अलौकिक या अतिरंजित की ओर रहता है और कुछ का केवल अप्रस्तुत पक्ष में; जैसे—मखतूल के झूल झुलावत केशव भानु मनो शनि अंक लिए।

भाव-व्यंजना के क्षेत्र में काव्य का अतिरंजित या प्रगीत स्वरूप अधिकतर मुक्तक पद्यों में—विशेषतः शृंगार या प्रेम-संबंधी—पाया जाता है। कहीं विरह-ताप से सुलगते हुए शरीर से उठे धूएँ के कारण ही आकाश नीला दिखाई पड़ता है, कौवे काले हो जाते हैं। कहीं रक्त के आँसुओं की बूँदें टेसू के फूलों, नई कोपलों और गुंजा के दानों के रूप में बिखरी दिखाई पड़ती हैं। कहीं जगत् को डुबानेवाले अश्रु-प्रवाह के खारेपन से समुद्र खारे हो जाते हैं। कहीं भस्मीभूत शरीर की राख का एक एक कण हवा के साथ

उड़ता हुआ प्रिय के चरणों में लिपटना चाहता है। इसी प्रकार कहीं प्रिय का श्वास मलयानिल होकर लगता है; कहीं उसके अंग का स्पर्श कपूर के कर्दम या कमल-दलों की खाड़ी में ढकेल देता है।

यहाँ पर यह कह देना आवश्यक है कि गोस्वामीजी की रुचि काव्य के अतिरंजित या प्रगीत स्वरूप की ओर नहीं थी। गीतावली गीत-काव्य है पर उसमें भी भावों की व्यंजना उसी रूप में हुई है जिस रूप में मनुष्यों को उनकी अनुभूति हुआ करती है या हो सकती है। यह बात आगे के प्रसंगों में उद्धृत उदाहरणों से स्पष्ट हो जायगी। केवल दो-एक जगह उन्होंने कवियों की अति-रंजित या प्रलपित उक्तियों का अनुकरण किया है; जैसे, सीताजी के विरह-ताप के इस वर्णन में जो हनुमान् राम से कहते हैं—

जेहि बाटिका बसति तहँ खग मृग तजि तजि भजे पुरातन भौन।
स्वास-समीर भेंट भइ भोरेहु तेहि मग पग न धर्‌यो तिहुँ पौन॥

पर ये दोनों पंक्तियाँ ऐसी हैं कि यदि तुलसी के सामान्य पाठकों को सुनाई जायँ तो वे इन्हें तुलसी की न समझेंगे। तात्पर्य्य यह कि गोस्वामीजी की दृष्टि वास्तविक जीवन-दशाओं के मार्मिक पक्षों के उद्घाटन की ओर थी, काल्पनिक वैचित्र्य-विधान की ओर नहीं।

ऊपर जो बात कही गई उसका अर्थ 'कलावादी' लोगों के निकट यह होगा कि तुलसीदास "नूतन सृष्टि-निर्माण" वाले कवि नहीं थे। ऐसे लोगों के गुरुओं का कहना है कि ज्ञात जगत् परिमित है और मन (या अंतःकरण-विशिष्ट आत्मा) का विस्तार असीम और अपरिमित है; अतः पूरी कविता वही है जो वास्तविक जगत् या जीवन में बद्ध न रहकर, वस्तु और अनुभूति दोनों के लोकातीत स्वरूप दिखाया करे। कल्पना के इन 'विश्वामित्रों' से योरप भी कुछ दिन परेशान रहा। 'कलावादी' जिसे 'नूतन सृष्टि' कहते हैं वह स्वच्छ और स्थिर दृष्टिवालों के निकट वास्तविक का

विकृत रूप मात्र है—ऐसा विकृत रूप जो प्रायः कुतूहल मात्र उत्पन्न करके रह जाता है, हृदय के मर्मस्थल को स्पर्श नहीं करता, कोई सच्ची और गभीर अनुभूति नहीं जगाता।

तुलसी की गंभीर वाणी शब्दों की कलाबाजी, उक्तियों की झूठी तड़क-भड़क आदि खेलवाड़ों में भी नहीं उलझी है। वह श्रोताओं या पाठकों को ऐसी भूमियों पर ले जाकर खड़ा करने में ही अग्रसर रही है जहाँ से जीते-जागते जगत् की रूपात्मक और क्रियात्मक सत्ता के बीच भगवान् की भावमयी मूर्त्ति की झाँकी मिल सकती है। गोस्वामीजी का उद्देश्य लोक के बीच प्रतिष्ठित रामत्व में लीन करना है; कुतूहल या मनोरंजन की सामग्री एकत्र करना नहीं। श्लेष, यमक, परिसंख्या इत्यादि कोरे चमत्कार-विधायक अलंकार रखने के लिये ही उन्होंने कहीं रचना नहीं की है। इन अलंकारों का प्रयोग ही उन्होंने दो ही चार जगह किया है। वे चमत्कार-वादी नहीं थे। 'दोहावली' में कुछ दोहों की दुरूहता का कारण उनकी चमत्कार-प्रियता नहीं, समास-पद्धति का अवलंबन है, जिसमें अर्थ का कुछ आक्षेप ऊपर से करना पड़ता है; जैसे, यह दोहा लीजिए—

> उत्तम मध्यम नीच गति, पाहन सिकता पानि।
> प्रीति-परिच्छा तिहुँन की, बैर बितिक्रम जानि॥

जो इस संस्कृत श्लोक का अनुवाद है—

> उत्कृष्ट-मध्यम-निकृष्ट-जनेषु मैत्री
> यद्वच्छिलासु सिकतासु जलेषु रेखा।
> वैरं निकृष्टमभिमध्यम उत्तमे च
> यद्वच्छिलासु सिकतासु जलेषु रेखा॥

श्लोक के भाव को थोड़े में व्यक्त करने के लिये "उत्तम, मध्यम, निकृष्ट" को फिर उलटे क्रम से न रखकर 'बितिक्रम' शब्द से

काम चलाया गया है। 'रेखा' शब्द न लाने से अर्थ बिल्कुल लापता हो गया है। अनुवाद की यह असफलता समास या चुस्ती के प्रयास के कारण हुई है। नहीं तो गोस्वामीजी के समान संस्कृत उक्तियों का अनुवाद करनेवाला हिंदी का और दूसरा कवि नहीं। दोहावली में जितने क्लिष्ट दोहे हैं उनकी क्लिष्टता का कारण यही समास-शैली है। ऐसे दोहों में 'न्यूनपदत्व' दोष प्रायः पाया जाता है।

अनुकरण मनुष्य के स्वभाव के अंतर्गत है। गोस्वामीजी ने जैसे सब प्रकार की प्रचलित पद्य-शैलियों या छंदों में रचना की है वैसे ही कहीं दो-एक जगह कूट और आलंकारिक चमत्कार आदि का भी कौशल दिखा दिया है जिसके उदाहरण 'दोहावली' में मिलेंगे। 'दोहावली' में कुछ दोहे ज्योतिष की परिभाषाओं और संकेतों को लेकर रचे गए हैं। बात यह है कि 'दोहावली' में गोस्वामीजी कवि और सूक्तिकार, इन दोनों रूपों में विराजमान हैं। भक्ति और प्रेम का स्वरूप व्यक्त करनेवाले दोहे तो 'काव्य' के अंतर्गत लिए जायँगे, पर नीति-परक दोहे 'सूक्ति' की श्रेणी में स्थान पाएँगे।

'दोहावली' के समान 'रामचरित-मानस' में भी गोस्वामीजी कवि के रूप में ही नहीं धर्मोपदेष्टा और नीतिकार के रूप में भी हमारे सामने आते हैं। 'मानस' के काव्य-पक्ष का तो कहना ही क्या है। उसके भीतर मनुष्य-जीवन में साधारणतः आनेवाली प्रत्येक दशा और प्रत्येक परिस्थिति का सन्निवेश तथा उस दशा और परिस्थिति का अत्यंत स्वाभाविक, मर्मस्पर्शी और सर्वग्राह्य चित्रण है। जैसा लोकाभिराम राम का चरित था, वैसी ही प्रसादमयी गंभीर गिरा, संस्कृत और हिंदी दोनों में, उसके प्रकाश के लिये मिली। इस काल में तो 'रामचरित-मानस' हिंदू-जीवन और हिंदू-संस्कृति का सहारा हो गया है। भारतवर्ष के जिस कोने में लोग इस ग्रंथ को पूरा पूरा नहीं भी समझ सकते, वहाँ भी वे थोड़ा-बहुत जितना

समझ पाते हैं उतने ही के लिये इसे पढ़ते हैं। कथाएँ तो और भी कही जाती हैं; पर जहाँ सबसे अधिक श्रोता देखिए और उन्हें रोते और हँसते पाइए, वहाँ समझिए कि तुलसीकृत रामायण हो रही है। साधारण जनता के मानस पर तुलसी के 'मानस' का अधिकार इतने ही से समझा जा सकता है।

इसी एक ग्रंथ से जन-साधारण को नीति का उपदेश, सत्कर्म की उत्तेजना, दुःख में धैर्य्य, आनंदोत्सव में उत्साह, कठिन स्थिति को पार करने का बल सब कुछ प्राप्त होता है। यह उनके जीवन का साथी हो गया है।

जिस धूमधाम से इस ग्रंथ की प्रस्तावना उठती है उसे देखते ही इसके महत्त्व का आभास मिलने लगता है। ऐसे दृष्टि-विस्तार के साथ, जगत् की ऐसी गभीर समीक्षा के साथ और किसी ग्रंथ की प्रस्तावना नहीं लिखी गई। रामायणियों में प्रसिद्ध है कि 'बाल' के आदि, 'अयोध्या' के मध्य और 'उत्तर' के अंत की गभीरता की थाह डूबने से मिलती है। बात भी कुछ ऐसी ही है। मनुष्य-जीवन की दशा के हिसाब से देखें तो 'बालकांड' में आनंदोत्सव अपनी हद को पहुँचता है; 'अयोध्या' में गार्हस्थ्य की विषम स्थिति सामने आती है; 'अरण्य,' 'किष्किंधा' और 'सुंदर' कर्म और उद्योग का पक्ष प्रतिबिंबित करते हैं तथा 'लंका' में और 'उत्तर' में कर्म की चरम सीमा, विजय और विभूति का चित्र दिखाई पड़ता है।

जैसा कि कहा जा चुका है, 'मानस' में तुलसीदासजी धर्मोपदेष्टा और नीतिकार के रूप में भी सामने आते हैं। वह ग्रंथ एक धर्म-ग्रंथ के रूप में भी लिखा गया और माना जाता है। इससे शुद्ध काव्य की दृष्टि से देखने पर उसके बहुत से प्रसंग और वर्णन खटकते हैं; जैसे, पातिव्रत और मित्रधर्म के उपदेश, उत्तरकांड में गरुड़पुराण के ढंग का कर्मों का ऐसा फलाफल-कथन—

हरि-गुरु-निंदक दादुर होई । जन्म सहस्र पाव तन सोई ।।
सुर-श्रुति-निंदक जे अभिमानी । रौरव नरक परहिं ते प्रानी ।।
सबकै निंदा जे जड़ करहीं । ते चमगादुर होइ अवतरहीं ।।

अब विचारना यह चाहिए कि साहित्य की दृष्टि से ऐसे कोरे उपदेशों का 'मानस' में स्थान क्या होगा । 'मानस' एक 'प्रबंध-काव्य' है । 'प्रबंध-काव्य' में कवि लोग पात्रों की प्रकृति और शील का चित्रण भी किया करते हैं । 'मानस' में उक्त प्रकार के उपदेशात्मक वचन किसी न किसी पात्र के मुँह से कहलाए गए हैं । अत: यह कहा जा सकता है कि ऐसे वचन पात्रों के शील-व्यंजक मात्र हैं और काव्य-प्रबंध के अंतर्गत हैं । पर विचार करने पर यह साफ झलक जाता है कि उन उपदेशात्मक वचनों द्वारा कवि का लक्ष्य वक्ता पात्रों का चरित्र-चित्रण करना नहीं, उपदेश ही देना है । चरित्र-चित्रण मात्र के लिये जो वचन कहलाए जाते हैं उनके यथार्थ-अयथार्थ या संगत-असंगत होने का विचार नहीं किया जाता*। पर 'मानस' में आए उपदेश इसी दृष्टि से रखे जान पड़ते हैं कि लोग उन्हें ठीक मानकर उन पर चलें । अत: यही मानना ठीक होगा कि ऐसे स्थलों पर गोस्वामीजी का कवि का रूप नहीं, उपदेशक का ही रूप है । अब हम इन कोरे और नीरस उपदेशों को काव्यक्षेत्र के

---

*Those concepts which are found mingled and fused with intuitions are no longer concepts in so far as they are really mingled and fused, for they have lost all independence and autonomy, *e.g.*, the philosophical maxims placed in the mouth of a personage of tragedy or comedy, perform there the function not of concepts but of characteristics of such personage.

—" Æsthetics " by Benedetto Croce.

भीतर समझें या बाहर ? भीतर समझने के लिये यही एक शास्त्रीय युक्ति है कि जैसे समूचे प्रबंध के रस से बीच बीच में आए हुए "आगे चले बहुरि रघुराई" ऐसे नीरस पद्य भी रसवान् हो जाते हैं, वैसे ही इस प्रकार के कोरे उपदेश भी।

अब रहा यह कि गोस्वामीजी ने 'रामचरित-मानस' की रचना में वाल्मीकि से भिन्न पथ का जो बहुत जगह अवलंबन किया है, वह किस विचार से। पहली बात तो यह है कि वाल्मीकि ने राम के नरत्व और नारायणत्व, इन दो पक्षों में से नरत्व की पूर्णता प्रदर्शित करने के लिये उनके चरित का गान किया है। पर गोस्वामीजी ने राम का नारायणत्व लिया है और अपने 'मानस' को भगवद्भक्ति के प्रचार का साधन बनाया है। इससे कहीं कहीं उन्होंने उनके नरत्व-सूचक लक्षणों को दृष्टि के सामने से हटा दिया है। जैसे, वनवास का दुःसंवाद सुनाने जब राम कौशल्या के पास जाने लगे हैं तब वाल्मीकि ने उनके दीर्घ निःश्वास और कंपित स्वर का उल्लेख किया है; सीता को अयोध्या में रहने के लिये समझाते समय उन्होंने कहा है कि भरत के सामने मेरी प्रशंसा न करना; इसी प्रकार मृग को मारकर लौटते समय आश्रम पर सीता के न रहने की आशंका उन्हें होने लगी है तब उनके मुँह से निकल पड़ा है कि 'कैकेयी अब सुखी होगी'। ऐसे स्थलों पर राम में इस प्रकार का क्षोभ गोस्वामीजी ने नहीं दिखाया है। पर साथ ही काव्यत्व की उन्होंने पूरी रक्षा की है; अस्वाभाविकता नहीं आने दी है। अवसर के अनुसार दुःख, शोक आदि की उनके द्वारा पूरी व्यंजना कराई है। अध्यात्मरामायण भक्ति-परक ग्रंथ है, इससे अनेक स्थलों पर उन्होंने उसी का अनुसरण किया है।

पर बहुत कुछ परिवर्त्तन गोस्वामीजी ने अपने समय की लोक-रुचि और साहित्य की रूढ़ि के अनुसार किया है। वाल्मीकि ने

प्रेम का स्फुरण केवल लोक-कर्त्तव्यों के बीच में ही दिखाया है, उनसे अलग नहीं। उनकी रामायण में सीता-राम के प्रेम का परिचय हम विवाह के उपरांत ही पाते हैं। पर गोस्वामीजी के बहुत पहले से काव्यों में विवाह के पूर्व नायक-नायिका में प्रेम का प्रादुर्भाव दिखाने की प्रथा प्रतिष्ठित चली आती थी। इससे उन्होंने भी प्रेमाख्यानी रंग (Romantic turn) देने के लिये जयदेव के प्रसन्नराघव नाटक का अनुसरण करके धनुष-यज्ञ के प्रसंग में 'फुलवारी' के दृश्य का सन्निवेश किया। उन्होंने जनक की वाटिका में राम और सीता का साक्षात्कार कराके दोनों के हृदय में प्रेम का उदय दिखाया। पर इस प्रेम-प्रसंग में भी राम-कथा के पुनीत स्वरूप में कुछ भी अंतर न आने पाया; लोक-मर्य्यादा का लेश-मात्र भी अतिक्रमण न हुआ। राम-सीता एक दूसरे का अलौकिक सौंदर्य्य देखकर मुग्ध होते हैं। सीता मन ही मन राम को अपना वर बनाने की लालसा करती हैं, उनके ध्यान में मग्न होती हैं, पर "पितु-पन सुमिरि बहुरि मन छोभा"। वे इस बात का कहीं आभास नहीं देतीं कि 'पिता चाहे लाख करें, मैं राम को छोड़ और किसी के साथ विवाह न करूँगी'। इसी प्रकार राम भी यह कहीं व्यंजित नहीं करते कि धनुष चाहे जो तोड़े, मेरे देखते सीता के साथ कोई विवाह नहीं कर सकता।

वाल्मीकि ने विवाह हो जाने के उपरांत मार्ग में परशुराम का मिलना लिखा है। पर गोस्वामीजी ने उनका झमेला विवाह के पूर्व धनुर्भंग होते ही रखा है। इसे भी रसात्मकता की मात्रा बढ़ाने की काव्य-युक्ति ही समझना चाहिए। वीरगाथा-काल के पहले से ही वीर-काव्यों की यह परिपाटी चली आती थी कि नायिका को प्राप्त करने के पहले नायक के मार्ग में अनेक प्रकार की विघ्न-बाधाएँ खड़ी होती थीं जिन्हें नायक अपना अद्भुत पराक्रम

दिखाता हुआ दूर करता था। इससे नायक के व्यक्तित्व का प्रभाव नायिका पर और भी अधिक हो जाता था, उस पर वह और भी अधिक मुग्ध हो जाती थी। 'रासो' नाम से प्रचलित वीर-काव्यों में वीर नायक अपने विरोधियों को परास्त करने के उपरांत नायिका को ले जाता था। रामचंद्रजी का तेज और पराक्रम धनुष तोड़ने पर व्यक्त हुआ ही था और सीता पर उसका अनुराग-वर्द्धक प्रभाव पड़ा ही था कि परशुराम के कूद पड़ने से प्रभाव-वृद्धि का दूसरा अवसर निकल आया। परशुराम ऐसे जगद्विजयी और तेजस्वी का भी तेज राम के सामने फीका पड़ गया। उस समय राम की ओर सीता का मन कितने और अधिक वेग से आकर्षित हुआ होगा; राम के स्वरूप ने किस शक्ति के साथ उनके हृदय में घर किया होगा!

गोस्वामीजी ने यद्यपि अपनी रचना "स्वांत:सुखाय" बताई है, पर वे कला की कृति के अर्थ और प्रभाव की प्रेषणीयता (Communicability) को बहुत ही आवश्यक मानते थे। किसी रचना का वही भाव जो कवि के हृदय में था यदि पाठक या श्रोता के हृदय तक न पहुँच सका तो ऐसी रचना कोई शोभा नहीं प्राप्त कर सकती; उसे एक प्रकार से व्यर्थ समझना चाहिए—

मनि मानिक-मुकुता-छबि जैसी। अहि, गिरि, गज-सिर सोह न तैसी॥
नृप-किरीट तरुनी-तन पाई। लहहिं सकल सोभा अधिकाई॥
तैसइ सुकवि-कवित बुध कहहीं। उपजहिं अनत, अनत छबि लहहीं॥

आजकल सब बातें विलायती दृष्टि से देखी जाती हैं। अत: यह पूछा जा सकता है कि तुलसीदास की रचना अधिकतर स्वानुभूति-निरूपिणी (Subjective) है अथवा बाह्यार्थ-निरूपिणी (Objective)। रामचरित-मानस के संबंध में तो यह प्रश्न हो ही नहीं सकता क्योंकि वह एक प्रबंध-काव्य या महाकाव्य है। प्रबंध-

काव्य सदा बाह्यार्थ-निरूपक होता है। शेष ग्रंथों में से 'गीतावली' यद्यपि गीत-काव्य है फिर भी वह आदि से अंत तक कथा ही को लेकर चली है। उसमें या तो वस्तु-व्यापार-वर्णन है अथवा पात्रों के मुँह से भाव-व्यंजना। अत: वह भी बाह्यार्थ-निरूपक ही कही जायगी। कवितावली में भी कथा-प्रसंगों को लेकर ही फुटकल पद्यों की रचना की गई है। हाँ, उसके उत्तर-कांड में कवि राम की दयालुता, भक्त-वत्सलता आदि के साथ साथ अपनी दीनता, निरवलंबता, कातरता इत्यादि का भी वर्णन करता है। 'विनय-पत्रिका' में अलबत तुलसीदासजी अपनी दशा का निवेदन करने बैठे हैं। उस ग्रंथ में वे जगह जगह अपनी प्रतीति, अपनी भावना और अपनी अनुभूति को स्पष्ट 'अपनी' कहकर प्रकट करते हैं; जैसे—

(क) संकर साखि जो राखि कहौं कछु तौ जरि जीह गरो।
अपनो भलो राम-नामहि तें तुलसिहि समुझि परो॥

(ख) बहु मत सुनि, बहु पंथ पुराननि जहाँ-तहाँ झगरो सो।
गुरु कह्यो राम-भजन नीको मोहिं लगत राज-डगरो सो॥

(ग) को जानै को जैहै जमपुर, को सुरपुर, परधाम को।
तुलसिहि बहुत भलो लागत जग-जीवन राम-गुलाम को॥

(घ) नाहिं न नरक परत मोकहँ डर, जद्यपि हौं अति हारो।
यह बड़ि त्रास दास तुलसी प्रभु-नामहु पाप न जारो॥

पर इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि तुलसी की अनुभूति ऐसी नहीं जो एकदम सबसे न्यारी हो। 'विनय' में कलि की करालता से उत्पन्न जिस व्याकुलता या कातरता का उन्होंने वर्णन किया है वह केवल उन्हीं की नहीं है, समस्त लोक की है। इसी प्रकार जिस दीनता, निरवलंबता, दोषपूर्णता या पापमग्नता की भावना की उन्होंने व्यंजना की है वह भी भक्त मात्र के हृदय की

सामान्य वृत्ति है। वह और सब भक्तों की अनुभूति से अवछिन्न नहीं; उसमें कोई व्यक्तिगत वैलक्षण्य नहीं।

यहाँ पर यह सूचित कर देना आवश्यक है कि 'स्वानुभूति-निरूपक' और 'बाह्यार्थ-निरूपक' यह भेद स्थूल दृष्टि से ही किया हुआ है। कवि अपने से बाहर की जिन वस्तुओं का वर्णन करता है उन्हें भी वह जिस रूप में आप अनुभव करता है, उसी रूप में रखता है। अत: वे भी उसकी स्वानुभूति ही हुईं। दूसरी ओर जिसे वह स्वानुभूति कहकर प्रकट करता है वह यदि संसार में किसी की अनुभूति से मेल नहीं खायगी तो एक कौतुक मात्र होगी; काव्य नहीं। ऐसा काव्य और उसका कवि दोनों तमाशा देखने की चीज ठहरेंगे*। जिस अनुभूति की व्यंजना को श्रोता या पाठक का हृदय भी अपनाकर अनुरंजित होगा वह केवल कवि की ही नहीं रह जायगी, श्रोता या पाठक की भी हो जायगी। अपने हृदय को और लोगों के हृदयों से सर्वथा विलक्षण प्रकट करनेवाला एक संप्रदाय

---

* योरप मे जो कलावादी संप्रदाय (Æsthetic School) चला था वह इन दो बातों में से पहली बात को ही लेकर दौड़ पड़ा था; दूसरी बात की ओर उसने ध्यान ही नहीं दिया था, जैसा कि पेटर (Pater) के इस कथन से स्पष्ट है—

Just in proportion as the writer's aim, consciously or unconsciously, comes to be the transcribing, not of the world, not of mere fact, but of his sense of it, he becomes an artist, his work fine art; and good art in proportion to the truth of his presentment of that sense; as in those humbler or plainer functions of literature also, truth—truth to bare fact there—is the essence of such artistic quality as they may have.

योरप में रहा है। वहाँ कुछ दिन नकली हृदयों के कारखाने जारी रहे। पर पीछे उन खिलौनों से लोग ऊब गए।

यह तो स्थिर बात है कि तुलसीदासजी ने वाल्मीकिरामायण, अध्यात्मरामायण, महारामायण, श्रीमद्भागवत, हनुमन्नाटक, प्रसन्न-राघव नाटक इत्यादि अनेक ग्रंथों से रचना की सामग्री ली है। इन ग्रंथों की बहुत सी उक्तियाँ उन्होंने ज्यों की त्यों अनूदित करके रखी हैं—जैसे, वर्षा और शरद् ऋतु के वर्णन बहुत कुछ भागवत से लिए हुए हैं। धनुषयज्ञ के प्रसंग में उन्होंने हनुमन्नाटक और प्रसन्न-राघव नाटक से बहुत सहायता ली है। पर उन्होंने जो संस्कृत उक्तियाँ ली हैं उन्हें भाषा पर अपने अद्वितीय अधिकार के बल से एकदम मूल हिंदी-रचना के रूप मे कर डाला है। कहीं से संस्कृत-पन या वाक्य-विन्यास की दुरूहता नहीं आने दी है। बहुत जगह तो उन्होंने उक्ति को अधिक व्यंजक बनाकर और चमका दिया है। उदाहरण के लिये हनुमन्नाटक का यह श्लोक लीजिए—

> या विभूतिर्दशग्रीवे शिरश्छेदेऽपि शङ्करात्।
> दर्शनाद्रामदेवस्य सा विभूतिर्विभीषणे ॥

इसे गोस्वामीजी ने इस रूप में लिया है—

> जो संपति सिव रावनहि दीन्हि दिएँ दस माथ।
> सोइ संपदा बिभीषनहि सकुचि दीन्हि रघुनाथ ॥

इस अनुवाद में "दस माथ दिएँ" के जोड़ में 'दरसन ही तें' न रखने से याचक के बिना प्रयास प्राप्त करने का जोर तो निकल गया, पर 'सकुचि' पद लाने से दाता के असीम औदार्य्य की भावना से उक्ति परिपूर्ण हो गई। 'सकुचि' शब्द की व्यंजना यह है कि इतनी बड़ी संपत्ति भी देते समय राम को बहुत कम जान पड़ी।

तुलसी की भावुकता

प्रबंधकार कवि की भावुकता का सबसे अधिक पता यह देखने से चल सकता है कि वह किसी आख्यान के अधिक मर्मस्पर्शी स्थलों को पहचान सका है या नहीं। राम-कथा के भीतर ये स्थल अत्यंत मर्मस्पर्शी हैं—राम का अयोध्या-त्याग और पथिक के रूप में वन-गमन; चित्रकूट में राम और भरत का मिलन; शबरी का आतिथ्य; लक्ष्मण को शक्ति लगने पर राम का विलाप; भरत की प्रतीक्षा। इन स्थलों को गोस्वामीजी ने अच्छी तरह पहचाना है, इनका उन्होंने अधिक विस्तृत और विशद वर्णन किया है।

एक सुंदर राजकुमार के छोटे भाई और स्त्री को लेकर घर से निकलने और वन वन फिरने से अधिक मर्मस्पर्शी दृश्य क्या हो सकता है? इस दृश्य का गोस्वामीजी ने मानस, कवितावली और गीतावली तीनों में अत्यंत सहृदयता के साथ वर्णन किया है। गीतावली में तो इस प्रसंग के सबसे अधिक पद हैं। ऐसा दृश्य स्त्रियों के हृदय को सबसे अधिक स्पर्श करनेवाला, उनकी प्रीति, दया और आत्मत्याग को सबसे अधिक उभारनेवाला होता है, यह बात समझकर मार्ग में उन्होंने ग्राम-वधुओं का सन्निवेश किया है। ये स्त्रियाँ राम-जानकी के अनुपम सौंदर्य पर स्नेह-शिथिल हो जाती हैं, उनका वृत्तांत सुनकर राजा की निष्ठुरता पर पछताती हैं, कैकेयी की कुचाल पर भला-बुरा कहती हैं। सौंदर्य्य के साक्षात्कार से थोड़ी देर के लिये उनकी वृत्तियाँ कोमल हो जाती हैं, वे अपने को भूल जाती हैं। यह कोमलता उपकार-बुद्धि की जननी है—

"सीता-लषन-सहित रघुराई। गाँव निकट जब निकसहिं जाई॥
सुनि सब बाल-वृद्ध नर-नारी। चलहिं तुरत गृह-काज बिसारी॥

राम-लखन-सिय-रूप निहारी। पाइ नयन-फल होहिं सुखारी॥
सजल बिलोचन पुलक सरीरा। सब भए मगन देखि दोउ बीरा॥
रामहिं देखि एक अनुरागे। चितवत चले जाहिं सँग लागे॥
एक देखि बट-छाँह भलि, डासि मृदुल तृन पात।
कहहिं "गँवाइय छिनुक स्रम, गवनब अबहिं कि प्रात॥"

राम-जानकी के अयोध्या से निकलने का दृश्य वर्णन करने में गोस्वामीजी ने कुछ उठा नहीं रखा। सुशीलता के आगार रामचंद्र प्रसन्नमुख निकलकर दास-दासियों को गुरु के सपुर्द कर रहे हैं; सबसे वही करने की प्रार्थना करते हैं जिससे राजा का दुःख कम हो। उनकी सर्वभूतव्यापिनी सुशीलता ऐसी है कि उनके वियोग में पशु-पक्षी भी विकल हैं। भरतजी जब लौटकर अयोध्या आए, तब उन्हें सर-सरिताएँ भी श्रीहीन दिखाई पड़ीं, नगर भी भयानक लगा। भरत को यदि राम-गमन का संवाद मिल गया होता तो हम इसे भरत के हृदय की छाया कहते। पर घर में जाने के पहले उन्हें कुछ भी वृत्त ज्ञात नहीं था। इससे हम सर-सरिता के श्रीहीन होने का अर्थ उनकी निर्जनता, उनका सन्नाटापन लेंगे। लोग राम-वियोग में विकल पड़े हैं। सर-सरिता में जाकर स्नान करने का उत्साह उन्हें कहाँ? पर यह अर्थ हमारे आपके लिये है। गोस्वामीजी ऐसे भावुक महात्मा के निकट तो राम के वियोग में अयोध्या की भूमि ही विषाद-मग्न हो रही है; आठ आठ आँसू रो रही है।

चित्रकूट में राम और भरत का जो मिलन हुआ है, वह शील और शील का, स्नेह और स्नेह का, नीति और नीति का मिलन है। इस मिलन से संघटित उत्कर्ष की दिव्य प्रभा देखने योग्य है। यह झाँकी अपूर्व है! 'भायप भगति' से भरे भरत नंगे पाँव राम को मनाने जा रहे हैं। मार्ग में जहाँ सुनते हैं कि यहाँ पर राम-लक्ष्मण ने विश्राम किया था, उस स्थल को देख आँखों में आँसू भर लेते हैं।

देहिं लोग बहु. मोल न लेहीं। फेरत राम दोहाई देहीं॥

और सब से पुलकित होकर कहते हैं—

तुम्ह प्रिय पाहुन बन पगु धारे। सेवा जोगु न भाग हमारे॥

देब काह हम तुम्हहिं गोसाईं। ईंधन पात किरात मिताईं॥

यह हमारि अति बड़ि सेवकाई। लेहिं न बासन बसन चोराई॥

हम जड़ जीव जीवधनघाती। कुटिल कुचाली कुमति कुजाती॥

सपनेहुँ धरम-बुद्धि कस काऊ। यह रघुनंदन-दरस-प्रभाऊ॥

उस पुण्य-समाज के प्रभाव से चित्रकूट की रमणीयता में पवित्रता भी मिल गई। उस समाज के भीतर नीति, स्नेह, शील, विनय, त्याग आदि के संघर्ष से जो धर्म-ज्योति फूटी, उससे आसपास का सारा प्रदेश जगमगा उठा—उसकी मधुर स्मृति से आज भी वहाँ की वनस्थली परम पवित्र है। चित्रकूट की उस सभा की कार्रवाई क्या थी, धर्म के एक एक अंग की पूर्ण और मनोहर अभिव्यक्ति थी। रामचरितमानस में वह सभा एक आध्यात्मिक घटना है। धर्म के इतने स्वरूपों की एक साथ योजना, हृदय की इतनी उदात्त वृत्तियों की एक साथ उद्भावना, तुलसी के ही विशाल 'मानस' में संभव थी। यह संभावना उस समाज के भीतर बहुत से भिन्न भिन्न वर्गों के समावेश द्वारा संघटित की गई है। राजा और प्रजा, गुरु और शिष्य, भाई और भाई, माता और पुत्र, पिता और पुत्री, श्वशुर और जामातृ, सास और बहू, क्षत्रिय और ब्राह्मण, ब्राह्मण और शूद्र, सभ्य और असभ्य के परस्पर व्यवहारों का, उपस्थित प्रसंग के धर्म-गांभीर्य्य और भावोत्कर्ष के कारण, अत्यंत मनोहर रूप प्रस्फुटित हुआ। धर्म के उस स्वरूप को देख सब मोहित हो गए—क्या नागरिक, क्या ग्रामीण और क्या जंगली। भारतीय शिष्टता और सभ्यता का चित्र यदि देखना हो तो इस राज-समाज में देखिए। कैसी परिष्कृत भाषा में, कैसी प्रवचन-पटुता के साथ, प्रस्ताव उपस्थित

होते हैं, किस गंभीरता और शिष्टता के साथ बात का उत्तर दिया जाता है, छोटे बड़े की मर्य्यादा का किस सरसता के साथ पालन होता है! सबकी इच्छा है कि राम अयोध्या को लौटें; पर उनके स्थान पर भरत वन को जायँ, यह इच्छा भरत को छोड़ शायद ही और किसी के मन में हो। अपनी प्रबल इच्छाओं को लिए हुए लोग सभा में बैठते हैं; पर वहाँ बैठते ही धर्म के स्थिर और गंभीर स्वरूप के सामने उनकी व्यक्तिगत इच्छाओं का कहीं पता नहीं रह जाता। राजा के सत्य-पालन से जो गौरव राजा और प्रजा दोनों को प्राप्त होता दिखाई दे रहा है, उसे खंडित देखना वे नहीं चाहते। जनक, वशिष्ठ, विश्वामित्र आदि धर्मतत्त्व के पारदर्शी जो कुछ निश्चय कर दें, उसे वे कलेजे पर पत्थर रखकर मानने को तैयार हो जाते हैं।

इस प्रसंग में परिवार और समाज की ऊँची-नीची श्रेणियों के बीच कितने संबंधों का उत्कर्ष दिखाई पड़ता है, देखिए—

(१) राजा और प्रजा का संबंध लीजिए। अयोध्या की सारी प्रजा अपना सब काम-धंधा छोड़ भरत के पीछे राम के प्रेम में उन्हीं के समान मग्न चली जा रही है और चित्रकूट में राम के दर्शन से आह्लादित होकर चाहती है कि चौदह वर्ष यहीं काट दें।

(२) भरत का अपने बड़े भाई के प्रति जो अलौकिक स्नेह और भक्ति-भाव यहाँ से वहाँ तक झलकता है, वह तो सबका आधार ही है।

(३) ऋषि या आचार्य के सम्मुख प्रगल्भता प्रकट होने के भय से भरत और राम अपना मत तक प्रकट करते सकुचाते हैं।

(४) राम सब माताओं से जिस प्रकार प्रेम-भाव से मिले, वह उनकी शिष्टता का ही सूचक नहीं है, उनके अंतःकरण की कोमलता और शुद्धता भी प्रकट करता है।

(५) विवाहिता कन्या को पति की अनुगामिनी देख जनक जो यह हर्ष प्रकट करते हैं—

पुत्रि ! पवित्र किए कुल दोऊ । सुजस धवल जग कह सब कोऊ ॥

वह धर्म-भाव पर मुग्ध होकर ही ।

(६) भरत और राम दोनों जनक को पिता के स्थान पर कहकर सब भार उन्हीं पर छोड़ते हैं ।

(७) सीताजी अपने पिता के डेरे पर जाकर माता के पास बैठी हैं । इतने में रात हो जाती है और वे असमंजस में पड़ती हैं—

कहत न सीय सकुचि मन माहीं । इहाँ बसब रजनी भल नाहीं ॥

पति तपस्वी के वेश में भूशय्या पर रात काटें और पत्नी उनसे अलग राजसी ठाट-बाट के बीच रहे, यही असमंजस की बात है ।

(८) जब से कौशल्या आदि आई हैं, तब से सीता बराबर उनकी सेवा में लगी रहती है ।

(९) ब्राह्मण-वर्ग के प्रति राज-वर्ग के आदर और सम्मान का जैसा मनोहर स्वरूप दिखाई पड़ता है, वैसी ही ब्राह्मण-वर्ग में राज्य और लोक के हित-साधन की तत्परता झलक रही है ।

(१०) केवट के दूर से ऋषि को प्रणाम करने और ऋषि के उसे आलिंगन करने में उभय पक्ष का व्यवहार-सौष्ठव प्रकाशित हो रहा है।

(११) वन्य कोल-किरातों के प्रति सबका कैसा मृदुल और सुशील व्यवहार है ।

कवि की पूर्ण भावुकता इसमें है कि वह प्रत्येक मानव-स्थिति में अपने को डालकर उसके अनुरूप भाव का अनुभव करे । इस शक्ति की परीक्षा का रामचरित से बढ़कर विस्तृत क्षेत्र और कहाँ मिल सकता है ! जीवन-स्थिति के इतने भेद और कहाँ दिखाई पड़ते हैं ! इस क्षेत्र में जो कवि सर्वत्र पूरा उतरता दिखाई पड़ता है, उसकी भाकवुता को और कोई नहीं पहुँच सकता । जो केवल दांपत्य रति ही में अपनी भावुकता प्रकट कर सकें या वीरोत्साह ही का अच्छा चित्रण कर सकें, वे पूर्ण भावुक नहीं कहे जा सकते। पूर्ण भावुक वे

ही हैं जो जीवन की प्रत्येक स्थिति के मर्मस्पर्शी अंश का साक्षात्कार कर सकें और उसे श्रोता या पाठक के सम्मुख अपनी शब्दशक्ति द्वारा प्रत्यक्ष कर सकें। हिंदी के कवियों में इस प्रकार की सर्वांगपूर्ण भावुकता हमारे गोस्वामीजी में ही है जिसके प्रभाव से रामचरित-मानस उत्तरीय भारत की सारी जनता के गले का हार हो रहा है। वात्सल्य भाव का अनुभव करके पाठक तुरंत बालक राम-लक्ष्मण के प्रवास का उत्साहपूर्ण जीवन देखते हैं जिसके भीतर आत्मावलंबन का विकास होता है। फिर आचार्य-विषयक रति का स्वरूप देखते हुए वे जनकपुर में जाकर सीता-राम के परम पवित्र दांपत्य भाव के दर्शन करते हैं। इसके उपरांत अयोध्या-त्याग के करुण दृश्य के भीतर भाग्य की अस्थिरता का कटु स्वरूप सामने आता है। तदनंतर पथिक-वेशधारी राम-जानकी के साथ साथ चलकर पाठक ग्रामीण स्त्री-पुरुषों के उस विशुद्ध सात्त्विक प्रेम का अनुभव करते हैं जिसे हम दांपत्य, वात्सल्य आदि कोई विशेषण नहीं दे सकते, पर जो मनुष्यमात्र में स्वाभाविक है

रमणीय वन-पर्वत के बीच एक सुकुमारी राजवधू को साथ लिए दो वीर आत्मावलंबी राजकुमारों को विपत्ति के दिनों को सुख के दिनों में परिवर्त्तित करते पाकर वे "वीरभोग्या वसुंधरा" की सत्यता हृदयंगम करते हैं। सीता-हरण पर विप्रलंभ-शृंगार का माधुर्य्य देखकर पाठक फिर लंका-दहन के अद्भुत, भयानक और वीभत्स दृश्य का निरीक्षण करते हुए राम-रावण-युद्ध के रौद्र और युद्धवीर तक पहुँचते हैं। शांतरस का पुट तो बीच बीच में बराबर मिलता ही है। हास्यरस का पूर्ण समावेश रामचरितमानस के भीतर न करके नारद-मोह के प्रसंग में उन्होंने किया है। इस प्रकार काव्य के गूढ़ और उच्च उद्देश्य को समझनेवाले, मानव-जीवन के सुख और दुःख दोनों पक्षों के नाना रूपों के मर्मस्पर्शी चित्रण को देखकर,

गोस्वामीजी के महत्त्व पर मुग्ध होते हैं; और स्थूल बहिरंग दृष्टि रखनेवाले भी, लक्षण-ग्रंथों में गिनाए हुए नवरसों और अलंकारों पर, अपना आह्लाद प्रकट करते हैं।

यहाँ पर कहा जा सकता है कि गोस्वामीजी मनुष्य-जीवन की बहुत अधिक परिस्थितियों का जो सन्निवेश कर सके, वह रामचरित की विशेषता के कारण। इतने अधिक प्रकार की मानव-दशाओं का सन्निवेश आप से आप हो गया। ठीक है, पर उन सब दशाओं का यथातथ्य चित्रण बिना हृदय की विशालता, भाव-प्रसार की शक्ति, मर्मस्पर्शी स्वरूपों की उद्भावना और शब्द-शक्ति की सिद्धि के नहीं हो सकता। मानव-प्रकृति के जितने अधिक रूपों के साथ गोस्वामी-जी के हृदय का रागात्मक सामंजस्य हम देखते हैं, उतना अधिक हिंदी भाषा के और किसी कवि के हृदय का नहीं। यदि कहीं सौंदर्य्य है तो प्रफुल्लता, शक्ति है तो प्रणति, शील है तो हर्षपुलक, गुण है तो आदर, पाप है तो घृणा, अत्याचार है तो क्रोध, अलौकिकता है तो विस्मय, पाषंड है तो कुढ़न, शोक है तो करुणा, आनंदोत्सव है तो उल्लास, उपकार है तो कृतज्ञता, महत्त्व है तो दीनता तुलसी-दासजी के हृदय में बिंब-प्रतिबिंब भाव से विद्यमान है।

गोस्वामीजी की भावात्मक सत्ता का अधिक विस्तार स्वीकार करते हुए भी यह पूछा जा सकता है कि क्या उनके भावों में पूरी गहराई या तीव्रता भी है? यदि तीव्रता न होती, भावों का पूर्ण उद्रेक उनके वचनों में न होता, तो वे इतने सर्वप्रिय कैसे होते? भावों के साधारण उद्गार से ही सबकी तृप्ति नहीं हो सकती। यह बात अवश्य है कि जो भाव सबसे अधिक प्रकृतिस्थ है, उसकी व्यंजना सबसे अधिक गूढ़ और ठीक है। जो प्रेमभाव अत्यंत उत्कर्ष पर पहुँचा हुआ उन्होंने प्रकट किया है, वह अलौकिक है, अविचल है और अनन्य है। वह घन और चातक का प्रेम है।

इस प्रेम के संबंध में ध्यान देने की बात यह है कि यह समान के प्रति नहीं है, अपने से बड़े या ऊँचे के प्रति है। गोस्वामीजी अपने से बड़े या छोटे के साथ प्रेम करने को समान के साथ प्रेम करने से अच्छा समझते हैं—

के लघु के बड़ मीत भल, सम सनेह दुख सोइ।
तुलसी ज्यों घृत मधु सरिस मिले महाबिष होइ॥

इससे उनका भीतरी अभिप्राय यह है कि छोटे-बड़े के संबंध में धर्मभाव अधिक है। यदि प्रिय हमसे छोटा है तो उस पर जो हमारा प्रेम होगा वह दया, दाक्षिण्य, अनुकंपा, क्षमा, साहाय्य इत्यादि वृत्तियों को उभारेगा; यदि प्रिय हमसे बड़ा है तो उस पर आलंबित प्रेम, श्रद्धा, सम्मान, दैन्य, नम्रता, संकोच, कृतज्ञता, आज्ञा-कारिता इत्यादि को जाग्रत करेगा। इसमें तो कुछ कहना ही नहीं कि हमारे गोस्वामीजी का प्रेम दूसरे प्रकार का था—वह पूज्य-बुद्धि-गर्भित होकर भक्ति के रूप में था। उच्चता की जैसी प्राप्ति उच्च को आत्मसमर्पण करने से हो सकती है, वैसी समान को आत्मसमर्पण करने से नहीं। यह तो पहले ही दिखाया जा चुका है कि शील बाबाजी द्वारा निरूपित भक्ति के आलंबन के स्वरूप के—आभ्यंतर स्वरूप के सही—अंतर्गत है। भक्ति और शील की परस्पर स्थिति ठीक उसी प्रकार बिंब-प्रतिबिंब भाव से है जिस प्रकार आश्रय और आलंबन की। और आगे चलिए तो आश्रय और आलंबन की परस्पर स्थिति भी ठीक वही मिलती है जो ज्ञाता और ज्ञेय की है। हमें तो ऐसा दिखाई पड़ता है कि जो ज्ञान-क्षेत्र में ज्ञाता और ज्ञेय है, वही भाव-क्षेत्र में आश्रय और आलंबन है। ज्ञान की जिस चरम सीमा पर जाकर ज्ञाता और ज्ञेय एक हो जाते हैं, भाव की उसी चरम सीमा पर जाकर आश्रय और आलंबन भी एक हो जाते हैं। शील और भक्ति का अभेद देखने का इतना विवेचन बहुत है।

दांपत्य प्रेम का दृश्य भी गोस्वामीजी ने बहुत ही सुंदर दिखाया है, पर बड़ी ही मर्य्यादा के साथ। नायिकाभेदवाले कवियों का सा या कृष्ण की रासलीला के रसिकों का सा लोक-मर्य्यादा का उल्लंघन उसमें कहीं नहीं है। सीता-राम के परम पुनीत प्रणय की जो प्रतिष्ठा उन्होंने मिथिला में की, उसकी परिपक्वता जीवन की भिन्न भिन्न दशाओं के बीच पति-पत्नी के संबंध की उच्चता और रमणीयता संघटित करती दिखाई देती है। अभिषेक के राम को वन जाने की आज्ञा मिलती है। आनंदोत्सव का सारा दृश्य करुण दृश्य में परिणत हो जाता है। राम वन जाने को तैयार हैं और वन के क्लेश बताते हुए सीता को घर रहने के लिये कहते हैं। इस पर सीता कहती हैं—

> बन-दुख नाथ कहे बहुतेरे। भय-बिषाद परिताप घनेरे॥
> प्रभु-बियोग- लवलेस-समाना। सब मिलि होहिं न कृपानिधाना॥
> कुस - किसलय - साथरी सुहाई। प्रभु सँग मंजु मनोज-तुराई॥
> कंद-मूल - फल अमिय - अहारू। अवध-सौध-सत-सरिस पहारू॥
> मोहिं मग चलत न होइहि हारी। छिनु छिनु चरन-सरोज निहारी॥
> पायँ पखारि बैठि तरु - छाहीं। करिहौं बाउ मुदित मन माहीं॥
> बार बार मृदु मूरति जोही। लागिहि ताति बयारि न मोही॥

दुःख की परिस्थिति में सुख की इस कल्पना के भीतर हम जीवन-यात्रा में श्रांत पथिक के लिये प्रेम की शीतल सुखद छाया देखते हैं। यह प्रेम-मार्ग निराला नहीं है, जीवन-यात्रा के मार्ग से अलग होकर जानेवाला नहीं है। यह प्रेम कर्मक्षेत्र से अलग नहीं करता, उसमें बिखरे हुए काँटों पर फूल बिछाता है। राम-जानकी को नंगे पाँव चलते देख ग्रामवासी कहते हैं—

> जौ जगदीस इनहिं बन दीन्हा।
> कस न सुमनमय मारग कीन्हा॥

थोड़ी दूर साथ चलकर उन्होंने जान लिया होगा कि उनका मार्ग 'सुमनमय' ही है। प्रेम के प्रभाव से जंगल में भी मंगल था। सीता को तो सहस्रों अयोध्याओं का सुख वहाँ मिल रहा था—

नाह नेह नित बढ़त बिलोकी। हरषित रहति दिवस जिमि कोकी॥
सिय-मन राम-चरन-अनुरागा। अवध-सहस-सम बन प्रिय लागा॥
परन-कुटी प्रिय प्रियतम संगा। प्रिय परिवार कुरंग-बिहंगा॥
सासु-ससुर-सम मुनितिय मुनिबर। असन अमिय-सम कंद-मूल-फर॥

अयोध्या से अधिक सुख का रहस्य क्या है? प्रिय के साथ सहयोग के अधिक अवसर। अयोध्या में सहयोग और सेवा के इतने अवसर कहाँ मिल सकते थे? जीवनयात्रा की स्वाभाविक आवश्यकताओं की पूर्ति वन में अपने हाथों से करनी पड़ती थी। कुटी छाना, स्थान स्वच्छ करना, जल भर लाना, ईंधन और कंद-मूल इकट्ठा करना इत्यादि वहाँ के नित्य-जीवन के अंग थे। ऐसे प्राकृतिक जीवन में प्रेम का जो विकास हो सकता है, वह कृत्रिम जीवन में दुर्लभ है। प्रिय के प्रयत्नों में ऐसे ही स्वाभाविक सहयोग की अभिलाषिणी एक ग्रामीण नायिका कहती है—

आगि लागि घर जरिगा, बड़ सुख कीन।
पिय के हाथ घइलवा भरि भरि दीन॥

दूसरा कारण इस सुख का था हृदय का प्रकृति के अनेक रूपों के साथ सामंजस्य, जिसके प्रभाव से 'कुरंग-बिहंग' अपने परिवार के भीतर जान पड़ते थे। उस जगज्जननी जानकी का हृदय ऐसा न होगा तो और किसका होगा जिसे एक स्थान पर लगाए हुए फूल-पौदों को छोड़कर अन्य स्थान पर जाते हुए भी दुःख होता था।

सीताजी द्वारा शृंगार के संचारी भाव 'व्रीड़ा' की व्यंजना के लिये कैसा उपयुक्त अवसर चुना गया है! वन के मार्ग में ग्रामीण

स्त्रियाँ राम की ओर लक्ष्य करके सीता से पूछती हैं कि ये तुम्हारे कौन हैं। इस पर सीता—

तिन्हहिं बिलोकि बिलोकति धरनी। दुहुँ सँकोच सकुचति बर-बरनी॥

'बिलोकति धरनी' कितनी स्वाभाविक मुद्रा है! 'दुहुँ सँकोच' द्वारा कवि ने सीता के हृदय की कोमलता और अभिमान-शून्यता भी कैसे ढंग से व्यंजित कर दी है। एक तो राम को खुले शब्दों में अपना पति कहने में संकोच; दूसरा संकोच यह समझकर कि यदि इन भोली-भाली स्त्रियों को कोई उत्तर न दिया जायगा तो ये मन में दुखी होंगी और मुझे अभिमानिनी समझेंगी।

इसके आगे सीताजी में शृंगारी चेष्टाओं का विधान भी अत्यंत निपुणता और भावुकता के साथ गोस्वामीजी ने किया है—

बहुरि बदन-बिधु अंचल ढाँकी। पिय-तन चितै भौंह करि बाँकी॥
खंजन मंजु तिरीछे नैननि। निज पति कहेउ तिन्हहिं सिय सैननि॥

यदि आम रास्ते पर राम के साथ बातचीत करने में ये चेष्टाएँ दिखाई जातीं तो कुल-वधू की मर्य्यादा का भंग होता और कोई विशेष निपुणता की बात न होती; रूढ़ि का अनुसरण मात्र होता। पर बीच में उन स्त्रियों को डाल देने से एक परदा भी खड़ा हो गया और अधिक स्वाभाविकता भी आ गई। सीता में ये चेष्टाएँ अपने साथ राम के संबंध की भावना द्वारा उत्पन्न दिखाई पड़ती हैं। यदि राम-सीता के परस्पर व्यवहार में ये चेष्टाएँ दिखाई जातीं तो 'संभोग शृंगार' का खुला वर्णन हो जाता, जो गोस्वामीजी ने कहीं नहीं किया है।

अब प्रश्न यह है कि ये चेष्टाएँ 'अनुभाव' होंगी या विभावांतर्गत 'हाव'। हिंदी के लक्षण-ग्रंथों में 'हाव' प्रायः 'अनुभाव' के अंतर्गत रखे मिलते हैं। पर यह ठीक नहीं है। 'अनुभाव' के अंतर्गत केवल आश्रय की चेष्टाएँ आ सकती हैं। 'आश्रय' की

चेष्टाओं का उद्देश्य किसी भाव की व्यंजना करना होता है। पर 'हावों' का सन्निवेश किसी भाव की व्यंजना कराने के लिये नहीं होता, बल्कि नायिका का मोहक प्रभाव बढ़ाने के लिये, अर्थात् उसकी रमणीयता की वृद्धि के लिये, होता है। जिसकी रमणीयता या चित्ताकर्षकता का वर्णन या विधान किया जाता है, वह 'आलंबन' होता है। अत: 'हाव' नामक चेष्टाएँ आलंबन-गत ही मानी जायँगी और आलंबन-गत होने के कारण उनका स्थान 'विभाव' के अंतर्गत ही ठहरता है।

अब विचार करना चाहिए कि सीताजी की उक्त चेष्टाएँ 'अनुभाव' होंगी या 'हाव'। लक्षण के अनुसार "संभोगेच्छा-प्रकाशक भ्रूनेत्रादि-विकार" ही 'हाव' कहलाते हैं। पर सीताजी के विकार इस प्रकार के नहीं हैं। वे विकार राम के साथ अपने संबंध की भावना से उत्पन्न हैं और उनके प्रति प्रेम की व्यंजना करते हैं। इस प्रकार आश्रय की चेष्टाएँ होने के कारण वे विकार 'अनुभाव' ही होंगे।

सीता-हरण होने पर इस प्रेम को हम एक ऐसे मनोहर क्षेत्र का द्वार खोलते हुए पाते हैं जिसमें बल और पराक्रम अपनी परमावस्था को पहुँचकर अनीति और अत्याचार का ध्वंस कर देता है। वन में सीता का वियोग चारपाई पर करवटें बदलवानेवाला प्रेम नहीं है—चार कदम पर मथुरा गए हुए गोपाल के लिये गोपियों को बैठे बैठे रुलानेवाला वियोग नहीं है, झाड़ियों में थोड़ी देर के लिये छिपे हुए कृष्ण के निमित्त राधा की आँखों से आँसुओं की नदी बहानेवाला वियोग नहीं है—यह राम को निर्जन वनों और पहाड़ों में घुमानेवाला, सेना एकत्र करानेवाला, पृथ्वी का भार उतरवानेवाला वियोग है। इस वियोग की गंभीरता के सामने सूरदास द्वारा अंकित वियोग अतिशयोक्ति-पूर्ण होने पर भी बालक्रीड़ा सा लगता है।

हनुमान् के प्रकट होने के पहले जानकी उद्विग्न होकर कह रही थीं—

पावकमय ससि स्रवत न आगी। मानहु मोहि जानि हतभागी॥
सुनिय बिनय मम बिटप अशोका। सत्य नाम करु हरु मम शोका॥
नूतन किसलय अनल समाना। देहि अगिनि जिनि करहि निदाना॥

इतना कहते ही हनुमान् का मुद्रिका गिराना और सीता का उसे अंगार समझकर हाथ में लेना, यह सब तो गोस्वामीजी ने प्रसन्नराघव नाटक से लिया है। हनुमान् को सामने पाकर सीता उसी मर्य्यादा के साथ अपने वियोग-जनित दुःख की व्यंजना करती हैं जिस मर्य्यादा के साथ माता पुत्र के सामने कर सकती है। वे पहले 'अनुज सहित' राम का (अकेले राम का नहीं) कुशल पूछती हैं; फिर कहती हैं—

कोमलचित कृपालु रघुराई। कपि, केहि हेतु धरी निठुराई॥
सहज बानि सेवक सुखदायक। कबहुँक सुरति करत रघुनायक॥
कबहु नयन मम सीतल ताता। होइहि निरखि स्याम मृदुगाता॥

प्रिय के कुशल-मंगल के हेतु व्यग्रता भारतीय ललनाओं के वियोग का प्रधान लक्षण है। प्रिय सुख में है या दुःख में है, यह संशय विरह में दया या करुण भाव का हलका सा मेल कर देता है। भारत की कुल-वधू का विरह आवारा आशिकों-माशूकों का विरह नहीं है, वह जीवन के गांभीर्य को लिए हुए रहता है। यह वह विरह नहीं है जिसमें विरही अपना ही जलना और मरना देखता है; प्रिय मरता है कि जीता है, इससे कोई मतलब नहीं।

पवित्र दांपत्य-रति की कैसी मनोहर व्यंजना उन्होंने सीता द्वारा उस समय कराई है जिस समय ग्राम-वनिताओं ने मार्ग में राम को दिखाकर उनसे पूछा था कि "ये तुम्हारे कौन हैं?"

कोटि मनोज लजावनहारे। सुमुखि कहहु को आहि तुम्हारे॥

सुनि सनेहमय मंजुल बानी। सकुचि सीय मन महँ मुसुकानी॥
तिन्हहिं बिलोकि बिलोकति धरनी। दुहुँ सँकोच सकुचति बर-बरनी॥
सकुचि सप्रेम बालमृगनयनी। बोली मधुर बचन पिकबयनी॥
सहज सुभाय सुभग तन गोरे। नाम लषन लघु देवर मोरे॥
बहुरि बदन-बिधु अंचल ढाँकी। पिय-तन चितै भौंह करि बाँकी॥
खंजन मंजु तिरीछे नैननि। निज पति कहेउ तिन्हहिं सिय सैननि॥

कुल-वधू की इस अल्प व्यंजना में जो गौरव और माधुर्य है, वह उद्धत प्रेम-प्रलाप में कहाँ?

शोक का चित्रण भी गोस्वामीजी ने अत्यंत हृदय-द्रावक पद्धति से किया है। शोक के स्थल तुलसी वर्णित रामचरित में दो हैं—एक तो अयोध्या में राम-वनगमन का प्रसंग और दूसरा लंका में लक्ष्मण को शक्ति लगने का। राम के वन जाने पर जो दुःख फैला, वह शोक ही माना जायगा; वह प्रिय का प्रवास-जन्य दुःख मात्र नहीं है। अभिषेक के समय वनवास बड़े दुःख की बात है—

कैकयनंदिनि मंदमति कठिन कुटिलपन कीन्ह।
जेहि रघुनंदन जानकिहिं सुख-अवसर दुख दीन्ह॥

अतः परिजनों और प्रजा का दुःख राम की दुःख-दशा समझकर भी था, केवल राम का अलग होना देखकर नहीं—

राम चलत अति भएउ बिषादू। सुनि न जाइ पुर आरत नादू॥

यह विषाद (जो शोक का संचारी है) और यह आर्त्तनाद शोक-सूचक है। प्रिय के दुःख या पीड़ा पर जो दुःख हो, वह शोक है; प्रिय के कुछ दिनों के लिये वियुक्त होने मात्र का जो दुःख हो, वह विरह है। अतः राम के इस दुःखमय प्रवास पर जो दुःख लोगों को हुआ, वह शोक और वियोग दोनों है।

"तुलसी राम बियोग-सोक-बस समुझत नहिं समुझाए।"

में वियोगी और शोकसूचक वाक्य यद्यपि मिले हुए हैं, पर हम चाहें तो इन्हें अलग करके भी देख सकते हैं। शुद्ध वियोग—

जब जब भवन बिलोकति सूना।
तब तब बिकल होति कौसल्या, दिन दिन प्रति दुख दूना॥
को अब प्रात कलेऊ माँगत रूठि चलैगो माई?
स्याम-तामरस-नयन स्रवत जल काहि लेहुँ उर लाई*?

शोक या करुणा की व्यंजना इस प्रकार के वाक्यों में समझिए—

मृदु मूरति सुकुमार सुभाऊ। ताति बाउ तन लाग न काऊ॥
ते बन बसहिं बिपति सब भांती। निदरे कोटि कुलिस सहि छाती॥
राम सुना दुख कान न काऊ। जीवन-तरु जिमि जोगवइ राऊ॥
ते अब फिरत बिपिन पदचारी। कंद-मूल-फल-फूल-अहारी॥

दशरथ के मरण पर यह शोक अपनी पूर्ण दशा पर पहुँच जाता है। उस समय की अयोध्या की दशा के वर्णन में पाठकों को करुणा की ऐसी धारा दिखाई पड़ती है, जिसमें पुरवासियों के साथ वे भी मग्न हो जाते हैं—

लागति अवध भयावनि भारी। मानहुँ कालराति अँधियारी॥
घोर-जंतु-सम पुर-नर-नारी। डरपहिं एकहि एक निहारी॥
घर मसान, परिजन जनु भूता। सुत हित मीत मनहुँ जमदूता॥
बागन्ह बिटप बेलि कुम्हिलाहीं। सरित सरोवर देखि न जाहीं॥
बिधि कैकयी किरातिनि कीन्हीं। जेहि दव दुसह दसहु दिसि दीन्हीं॥
सहि न सके रघुबर-बिरहागी। चले लोग सब ब्याकुल भागी॥
करि बिलाप सब रोवहिं रानी। महाबिपति किमि जाइ बखानी॥
सुनि बिलाप दुखहू दुख लागा। धीरजहू कर धीरज भागा॥

---

* यद्यपि वन-गमन के समय राम इतने बच्चे न थे, पर वात्सल्य दिखाने के लिये गोस्वामीजी ने कौशल्या के मुख से ऐसा ही कहलाया है।

गोस्वामीजी द्वारा चित्रित राजकुल का यह शोक ऐसा शोक है जिसके भागी केवल पुरवासी ही नहीं, मनुष्य मात्र हो सकते हैं; क्योंकि यह ऐसे आलंबन के प्रति है जिसके थोड़े से दुःख को भी देख मनुष्य कहलानेवाले मात्र न सही तो मनुष्यता रखनेवाले सब करुणार्द्र हो सकते हैं।

दूसरा करुण दृश्य लक्ष्मण को शक्ति लगने पर राम का विलाप है। इस विलाप के भीतर शोक की व्यंजना अत्यंत स्वाभाविक रीति से की गई है। उसके प्रवाह में एक क्षण के लिये सारे नियम-व्रत, सारी दृढ़ता बही जाती सी दिखाई देती है—

जौ जनतेउँ बन बंधु-बिछोहू। पिता-बचन मनतेउँ नहिं ओहू॥

भाव-दशा का तात्पर्य न समझनेवाले, नीति के नाम पर पाषंड धारण करनेवाले, इसे चरित्र-ग्लानि समझेंगे या कहेंगे। पर ऐसे प्रिय बंधु का शोक, जिसने एक क्षण के लिये भी विपत्ति में साथ न छोड़ा, यदि एक क्षण के लिये सब बातों का विचार छुड़ा देनेवाला न होता तो राम के हृदय की वह कोमलता कहाँ दिखाई पड़ती जो भक्तों की आशा का अवलंबन है? यह कोमलता, यह सहृदयता सब प्रकार के नियमों से परे है। नियमों से निराश होकर, 'कर्म-वाद' की कठोरता से घबराकर, परोक्ष 'ज्ञान' और परोक्ष 'शक्ति' मात्र से पूरा पड़ता न देखकर ही तो मनुष्य परोक्ष 'हृदय' की खोज में लगा और अंत में भक्तिमार्ग में जाकर उस परोक्ष हृदय को उसने पाया। भक्त लोगों का ईश्वर अविचल नियमों की समष्टि मात्र नहीं है; वह क्षमा, दया, उदारता इत्यादि का अनंत समुद्र है। लोक में जो कुछ क्षमा, दया, उदारता आदि दिखाई देती है, वह उसी समुद्र का एक बिंदु है।

"आत्मग्लानि" का जैसा पवित्र और सच्चा स्वरूप गोस्वामीजी ने दिखाया है, वैसा शायद ही किसी कवि ने कहीं दिखाया हो।

आत्मग्लानि का उदय शुद्ध और सात्त्विक अंत:करण में ही हो सकता है; अत: भरत से बढ़कर उपयुक्त आश्रय उसके लिये और कहाँ मिल सकता है ? आत्मग्लानि नामक मानसिक शैथिल्य या तो अपनी बुराई का अनुभव आप करने से होता है अथवा किसी बुरे प्रसंग के साथ अपना संबंध लोक में दिखाई पड़ने से उत्पन्न हीनता का अनुभव करने से। भरतजी को ग्लानि थी दूसरे प्रकार की, पर बड़ी सच्ची और बड़ी गहरी थी। जिन राम का उन पर इतना गाढ़ा स्नेह था, जिन्हें वे लोकोत्तर श्रद्धा और भक्ति की दृष्टि से देखते आए, उनके विरोधी वे समझे जायँ, यह दु:ख उनके लिये असह्य था। इस दु:ख के भार से हलके होने के लिये वे छटपटाने लगे, इस घोर आत्मग्लानि को वे हृदय में न रख सके—

को त्रिभुवन मोहिं सरिस अभागी। गति असि तोरि मातु जेहि लागी॥
पितु सुरपुर, बन रघुबर केतू। मैं केवल सब अनरथ-हेतू॥
धिग मोहिं भयउँ बेनु-बन आगी। दुसह-दाह-दुख - दूषन - भागी॥

वे रह रहकर सोचते हैं कि मैं लाख अपनी सफाई दूँ, पर लोक की दृष्टि में निष्कलंक नहीं दिखाई पड़ सकता—

जो पै हौं मातु मते महँ ह्वैहौं।
तौ जननी जग में या मुख की कहाँ कालिमा ध्वैहौं ?
क्यों हौं आज होत सुचि सपथनि ? कौन मानिहै साँची ?
महिमा-मृगी कौन सुकृती की खल-बच-बिसिषन बाँची ?
गहि न जाति रसना काहू की, कहौ जाहि जो सूझै ?
दीनबंधु कारुण्यसिंधु बिनु कौन हिये की बूझै ?

कैकेयी को सामने पाकर इस ग्लानि के साथ अमर्ष का संयोग हो जाता है। उसकी पवित्रता के सामने माता के प्रति यह अवज्ञा कैसी मनोहर दिखाई पड़ती है—

(क) जो पै कुरुचि रही अति तोहीं। जनमत काहे न मारेसि मोहीं॥

पेड़ काटि तैं पालउ सींचा । मीन जियन-हित बारि उलीचा ॥
जब तैं कुमति ! कुमत जिय ठयऊ । खंड खंड होइ हृदय न गयऊ ॥
बर मांगत मन भई न पीरा । गरि न जीह, मुँह परेउ न कीरा ॥
अस को जीव-जंतु जग माहीं । जेहि रघुनाथ प्रान-प्रिय नाहीं ?
भे अति अहित राम तेउ तोहीं । को तू अहसि ? सत्य कहु मोहीं ॥

(ख) ऐसे तैं क्यों कटु बचन कह्यो, री ?
"राम जाहु कानन" कठोर तेरे कैसे धौं हृदय रह्यो री ?
दिनकर-बंस, पिता दसरथ से राम-लषन से भाई ।
जननी ! तू जननी तो कहा कहौं ? बिधि केहि खोरि न लाई ।
"हौं लहिहौं सुख राजमातु ह्वै, सुत सिर छत्र धरैगो ।"
कुल-कलंक-मल मूल मनोरथ तव बिनु कौन करैगो ?
ऐहैं राम सुखी सब ह्वैहैं, ईस अजस मेरो हरिहैं ?
तुलसिदास मोको बड़ो सोच, तू जनम कौन बिधि भरिहै ?

एक बार तो संसार की ओर देखकर भरतजी अयश छूटने से निराश होते हैं; पर फिर उन्हें आशा बँधती है और वे कैकेयी से कहते हैं कि ईश मेरा तो अयश हरेंगे, मैं तो मुँह दिखाने लायक़ हो जाऊँगा; पर तू अपने दिन कैसे काटेगी ? वे समझते हैं कि राम के आते ही मेरा अयश दूर हो जायगा। उनको विश्वास है कि सारा संसार मुझे दोषी माने, पर सुशीलता की मूर्ति राम मुझे दोषी नहीं मान सकते ।

परिहरि राम सीय जग माहीं । कोउ न कहहि मोर मत नाहीं ॥

राम की सुशीलता पर भरत को इतना अविचल विश्वास है ! वह सुशीलता धन्य है जिस पर इतना विश्वास टिक सके; और वह विश्वास धन्य है जो सुशीलता पर इस अविचल भाव से जमा रहे ! भरत की आशा का एक मात्र आधार यही विश्वास है। कौशल्या के सामने जिन वाक्यों द्वारा वे अपनी सफ़ाई देते हैं, उनके एक एक

शब्द से अंत:करण की स्वच्छता झलकती है। उनकी शपथ उनकी अंतर्वेदना की व्यंजना है—

जे अघ मातु, पिता, सुत मारे। गाय-गोठ महिसुर-पुर जारे॥
जे अघ तिय-बालक-बध कीन्हें। मीत महीपति माहुर दीन्हें॥
जे पातक उपपातक अहहीं। करम-बचन-मन-भव कबि कहहीं॥
ते पातक मोहिं होहु बिधाता। जौं एहु होइ मोर मत, माता!

इस सफाई के सामने हजारों वकीलों की सफाई कुछ नहीं है, इस कसमों के सामने लाखों कसमे कुछ नहीं हैं। यहाँ वह हृदय खोलकर रख दिया गया है जिसकी पवित्रता को देख जो चाहे अपना हृदय निर्मल कर ले।

हास्यरस का एक अच्छा छींटा नारद-मोह के प्रसंग में मिलता है। नारदजी बंदर का मुँह लेकर स्वयंवर की सभा में एक राजकन्या को मोहित करने बैठे हैं—

काहु न लखा सो चरित बिसेखा। सो सरूप नृप-कन्या देखा॥
मर्कट बदन भयंकर देही। देखत हृदय क्रोध भा तेही॥
जेहि दिसि बैठे नारद फूली। सो दिसि तेहि न बिलोकी भूली॥
पुनि पुनि मुनि उकसहिं अकुलाहीं। देखि दसा हरगन मुसुकाहीं॥

गोस्वामीजी का यह हास भी मर्य्यादा के साथ है, 'स्मित' हास है, बड़े लोगों का हास है। उस पर भी उद्देश्य-गर्भित है, निरा हास ही हास नहीं है। यह मोह और अहंकार छुड़ाने का एक साधन है। इसके आलंबन का स्वरूप भी विदूषकों का सा कृत्रिम नहीं है।

हास के अतिरिक्त बालविनोद की सामग्री देखनी हो, तो सुंदर कांड में एक लंबी पूँछ के बंदर को पूँछ में लुक बाँधकर नाचते हुए और राक्षसों के लड़कों को ताली बजा बजाकर कूदते हुए देखिए। थोड़ी देर वहीं ठहरने पर ऐसा भयानक और वीभत्स कांड देखने

को मिलेगा, जो भुलाए न भूलेगा। कवितावली में लंकादहन का बड़ा ही विस्तृत और पूर्ण चित्रण है। देखिए, कैसा आवेगपूर्ण भय है—

(क) "लागि, लागि आगि" भागि भागि चले जहाँ तहाँ,
धीय को न माय, बाप पूत न सँभारहीं।
छूटे बार, बसन उघारे, धूम धुंध अंध,
कहैं बारे बूढ़े "बारि बारि" बार बारहीं॥
हय हिहिनात भागे जात, घहरात गज,
भारी भीर ठेलि पेलि रौंदि खौंदि डारहीं।
नाम लै चिलात, बिललात अकुलात अति,
तात, तात! तौंसियत, झौंसियत झारहीं॥
(ख) लपट कराल ज्वालजाल-माल दहूँ दिसि,
धूम अकुलाने पहिचानै कौन काहि रे।
पानी को ललात, बिललात जरे गात जात,
परे पाइमाल जात, भ्रात! तू निबाहि रे॥
प्रिया! तू पराहि, नाथ नाथ! तू पराहि, बाप,
बाप! तू पराहि, पूत, पूत! तू पराहि रे।
तुलसी बिलोकि लोग ब्याकुल बिहाल कहैं,
"लेहि दससीस अब बीस चख चाहि रे॥"

इसी लंकादहन के भीतर यह वीभत्स कांड सामने आता है-

हाट बाट हाटक पिघलि घी सो घनो,
कनक-कराही लंक तलफति ताय सों।
नाना पकवान जातुधान बलवान सब,
पागि पागि ढेरी कीन्हीं भली भाँति भाय सों॥

पिशाचिनियों और डाकिनियों की वीभत्स क्रीड़ा का जो कवि-प्रथानुसार वर्णन है, वह तो है ही, जैसे—

आँतरी की झोरी काँधे, आँतनि की सेल्ही बाँधे,
मूड़ के कमंडलु, खपर किए कोरि कै।
जोगिनी झुटुंग झुंड झुंड बनी तापसी सी,
तीर तीर बैठी सो समर-सरि खोरि कै॥
सोनित सों सानि सानि गूदा खात सतुआ से,
प्रेत एक पियत बहोरि घोरि घोरि कै।
तुलसी बैताल भूत साथ लिए भूतनाथ,
हेरि हेरि हँसत हैं हाथ हाथ जोरि कै॥

कवायद की पूरी पाबंदी के साथ बहुत थोड़े में रौद्ररस का उदाहरण देखना हो, तो यह देखिए—

माथे लषन कुटिल भईं भौंहैं। रद-पट फरकत नयन रिसौंहैं॥
रघुबंसिन महँ जहँ कोउ होई। तेहि समाज अस कहै न कोई॥

इसमें अनुभाव भी हैं, अमर्ष संचारी भी है। संभव है, कुछ लोगों को "रिसौंहैं" शब्द के कारण 'स्वशब्दवाच्यत्व' दोष दिखाई पड़े; पर अनुभाव आदि द्वारा पूर्ण व्यंजना हो जाने पर विशेषण रूप में 'भाव' का नाम आ जाना दोष नहीं कहा जा सकता।

युद्धवीर के उदाहरणों से तो सारा लंकाकांड भरा पड़ा है। 'उत्साह' नामक भाव की भी व्यंजना अत्यंत उत्कर्ष को पहुँची हुई है और युद्ध के दृश्य का चित्रण भी बड़ा ही उग्र और प्रचंड है। वीररस का वर्णन-कौशल उन्होंने तीन शैलियों के भीतर दिखाया है—प्राचीन राजपूत-काल के चारणों की छप्पयवाली ओजस्विनी शैली के भीतर; इधर के फुटकरिए कवियों की दंडकवाली शैली के भीतर; और अपनी निज की गीतिकावाली शैली के भीतर। नीचे तीनों का क्रमशः एक एक उदाहरण दिया जाता है—

(१) कतहुँ विटप भूधर उपारि परसेन बरक्खत।
कतहुँ बाजि सों बाजि, मर्दि गजराज करक्खत॥

चरन चोट चटकन चकोट अरि उर सिर बज्जत।
बिकट कटक बिद्दरत बीर बारिद जिमि गज्जत॥
लंगूर लपेटत पटकि भट "जयति राम, जय" उच्चरत।
तुलसीस पवननंदन अटल जुद्ध, क्रुद्ध कौतुक करत॥

(२) दबकि दबोरे एक, बारिध में बोरे एक,
मगन मही में एक गगन उड़ात हैं।
पकरि पछारे, कर-चरन उखारे, एक
चीरि फारि डारे, एक मींजि मारे लात हैं॥
तुलसी लखत राम रावन, बिबुध बिधि,
चक्रपानि चंडीपति चंडिका सिहात हैं।
बड़े बड़े बानइत बीर बलवान बड़े,
जातुधान-जूथप निपाते बातजात हैं॥

(३) भए क्रुद्ध जुद्ध-बिरुद्ध रघुपति त्रोन सायक कसमसे।
कोदंड-धुनि अति चंड सुनि मनुजाद सब मारुत ग्रसे॥
मंदोदरी उर-कंप कंपति कमठ भू भूधर त्रसे।
चिक्करहिं दिग्गज दसन गहि महि, देखि कौतुक सुर हँसे॥

धनुष चढ़ाने के लिये राम और लक्ष्मण का उत्साह और धनुर्भंग की प्रचंडता का वर्णन भी अत्यंत वीरोल्लासपूर्ण है। जनक के वचन पर उत्तेजित होकर लक्ष्मण कहते हैं—

सुनहु भानु-कुल-कमल-भानु! जौ अब अनुसासन पावौं।
का बापुरो पिनाकु? मेलि गुन मंदर-मेरु नवावौं॥
देखौ निज किंकर को कौतुक, क्यों कोदंड चढ़ावौं।
लै धावौं, भंजौं मृनाल ज्यौं तौ प्रभु अनुज कहावौं॥

धनुष टूटने पर—

डिगति उर्बि अति गुर्बि, सर्ब पब्बै समुद्र सर।
ब्याल बधिर तेहि काल, बिकल दिगपाल चराचर॥

दिग्गयंद लरखरत, परत दसकंठ मुक्ख भर।
सुर बिमान हिमभानु भानु संघटित परस्पर॥
चौंके बिरंचि संकर सहित, कोल कमठ अहि कलमल्यो।
ब्रह्मांड खंड कियो चंड धुनि जबहिं राम सिव-धनु दल्यो॥

धनुर्भंग के इस वर्णन में प्रश्न यह उठता है कि इसमें प्रदर्शित 'उत्साह' का आलंबन क्या है। प्रचलित साहित्य-ग्रंथों में देखिए तो युद्धवीर का आलंबन विजेतव्य ही मिलेगा। यह विजेतव्य शत्रु या प्रतिपक्षी ही हुआ करता है। अतः यहाँ विजेतव्य धनुष ही हो सकता है। पर पृथ्वी पर पड़ा हुआ जड़ धनुष मनुष्य के हृदय में उठाने या तोड़ने का उत्साह किस तरह जाग्रत करेगा, यह समझते नहीं बनता है। वह तो पड़ा पड़ा ललकार नहीं रहा है। यदि किसी मनुष्य में इतना साहस और बल है कि वह बड़ी बड़ी चट्टानों को उठा सकता है, तो पहाड़ पर जाकर उसकी क्या दशा होगी? अतः हमारी समझ में उत्साह का आलंबन कोई विकट या दुष्कर्म 'कर्म' ही होता है।

लक्ष्मण को शक्ति लगने पर राम की व्याकुलता देख कार्य्य-तत्परता की मूर्ति हनुमान् कहते हैं—

जौ हौं अब अनुसासन पावौं।
तौ चंद्रमहिं निचोरि चैल ज्यों आनि सुधा सिर नावौं॥
कै पाताल दलौं व्यालावलि अमृतकुंड महि लावौं।
भेदि भुवन करि भानु बाहिरो तुरत राहु दै तावौं॥
बिबुध-बैद बरबस आनौं धरि तौ प्रभु अनुज कहावौं॥
पटकौं मीच नीच मूषक ज्यों सबहि को पापु बहावौं॥

हनुमान् के इस 'वीरोत्साह' का आलंबन क्या है? क्या चंद्रमा, अश्विनी-कुमार इत्यादि? खैर, इसका विस्तृत विवेचन अन्यत्र किया जायगा; यहाँ इतना ही निवेदन करके रसज्ञों से क्षमा चाहते हैं।

अब अद्भुत रस का एक उदाहरण देकर यह प्रसंग समाप्त किया जाता है। हनुमान्‌जी पहाड़ हाथ में लिए आकाश-मार्ग से अपूर्व वेग के साथ उड़े जा रहे हैं—

लीन्हों उखारि पहार बिसाल चल्यो तेहि काल बिलंब न लायो।
मारुत-नंदन मारुत को, मन को, खगराज को बेग लजायो॥
तीखो तुरा तुलसी कहतो पै हिये उपमा को समाउ न आयो।
मानो प्रतच्छ परब्बत की नभ लीक लसी कपि यों धुकि धायो॥

इस पद्य के भीतर "मारुत को, मन को, खगराज को" इस वाक्यांश में कुछ 'दुष्क्रमत्व' प्रतीत होता है। मन को सब के पीछे होना चाहिए; मन का वेग जब कह चुके, तब खगराज का वेग उसके सामने कुछ नहीं है। पर समग्र वर्णन से जो चित्र सामने खड़ा होता है, उसके अद्भुत होने में कोई संदेह नहीं। गगनमंडल के बीच पहाड़ की एक लीक सी बँध जाना कोई साधारण व्यापार नहीं है। इस अद्भुतता की योजना भी एक स्वभावसिद्ध व्यापार के आधार पर हुई है और प्रकृति का निरीक्षण सूचित करती है। यह सूचित करती है कि अत्यंत वेग से गमन करती हुई वस्तु की एक लकीर सी बन जाया करती है, इस बात पर कवि की दृष्टि गई है। जिसकी दृष्टि ऐसी ऐसी बातों पर न जाती हो, वह कवि कैसा? प्रकृति के नाना रूपों को देखने के लिये कवि की आँखें खुली रहनी चाहिएँ; उसका मृदु संगीत सुनने के लिये उसके कान खुले रहने चाहिएँ; और सबका प्रभाव ग्रहण करने के लिये उसका हृदय खुला रहना चाहिए। अद्भुतरस के इस आलंबन द्वारा गोस्वामीजी की वह स्वाभाविक विश्व-व्यापार-ग्राहिणी सहृदयता लक्षित होती है, जो हिंदी के और किसी कवि में नहीं। इस स्वभाव-सिद्ध अद्भुत व्यापार के सामने "कमल पर कदली, कदली पर कुंड, शंख पर चंद्रमा" आदि कवि-प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध रूपकातिशयोक्ति के कागजी दृश्य

क्या चीज हैं ? लड़कों के खेल हैं। बालकों या बाल-रुचिवालों का मनोरंजन उनसे होता हो, तो हो सकता है।

गोस्वामीजी ने अपनी इस परिष्कृत और गंभीर रुचि का परिचय अलंकारों की योजना में बराबर दिया है। लंकादहन के प्रसंग में जहाँ हनुमान्‌जी अपनी जलती हुई लंबी पूँछ इधर से उधर घुमाते हैं, वहाँ भी अपनी 'उत्प्रेक्षा' और 'संदेह' को वे इसी स्वभावसिद्ध व्यापार पर टिकाते हैं—

बालधी बिसाल बिकराल ज्वाल-जाल मानौं,
लंक लीलिबे को काल रसना पसारी है।
कैधों व्योम-बीथिका भरे हैं भूरि धूमकेतु,
बीर रस बीर तरवारि सी उघारी है॥

ध्यान से देखिए तो कई एक व्यापार, जो देखने में केवल अलौकिकत्व-विधायक प्रतीत होते हैं, हेतूत्प्रेक्षा के व्यंग्य से अपना प्रकृत स्वरूप खोल देंगे। पथिक-वेश में राम-लक्ष्मण वन के मार्ग में चले जा रहे हैं (क्षमा कीजिएगा, यह दृश्य हमें बहुत मनोहर लगता है, इसी से बार बार सामने आया करता है)। गोस्वामीजी कहते हैं—

जहँ जहँ जाहिं देव रघुराया। तहँ तहँ मेघ करहिं नभ छाया।

जिस समय मेघखंड आकाश में बिखरे रहते हैं, उस समय पथिक के मार्ग में कभी धूप पड़ती है कभी छाया। इस छाया पड़ने को देखकर किसी अवसर पर यदि कवि किसी साधारण पुरुष को भी कह दे कि "मेघ भी आपके ऊपर छाया करते चलते हैं" तो उसका यह कहना अस्वाभाविक न लगेगा। इस कथन द्वारा जिस प्रताप आदि की व्यंजना इष्ट होगी, वह उत्प्रेक्षा का हेतु हो जायगा। प्राचीन कवियों में इस प्रकार की सुंदर स्वाभाविक उक्तियाँ अक्सर मिलती हैं जिनमें से किसी किसी को लेकर और उन पर एक साथ कई प्रौढ़ोक्तियाँ लादकर पिछले खेवे के कवियों ने एक भद्दी इमारत

खड़ी की है। फल इसका यह हुआ है कि उनमें अतिशयोक्ति ही अतिशयोक्ति रह गई है; जो कुछ स्वाभाविकता थी, वह जान (अपनी कहिए या उन पुरानी उक्तियों की कहिए) लेकर भागी है। उदाहरण के लिये अभिज्ञान-शाकुंतल में भौंरा शकुंतला का पीछा किए हुए है और बार बार उसके मुँह की ओर जाता है—

"सलिल सेसंभमुग्गदो, णोमालिअं उज्झिअ वअणं मे महुअरो अहिवट्टइ"—

हमारे लाला भिखारीदासजी ने इस उक्ति को पकड़ा और उसके ऊपर यह भारी भरकम ढाँचा खड़ा कर दिया—

आनन है अरबिंद न फूले, अलीगन ! भूले कहा मँडरात हौ ?
कीर कहा तोहि बाई भई भ्रम बिंब के ओठन को ललचात हौ ?
दासजू ब्याली न, बेनी रची, तुम पापी कलापी कहा इतरात हौ ?
बोलति बाल न बाजत बीन, कहा सिगरे मृग घेरत जात हौ ?

ऐसे संकट में पड़ी हुई नायिका शायद ही कहीं दिखाई पड़े। भ्रमर-बाधा तक तो कोई चिंता की बात नहीं। पर उसके ऊपर यह शुक-बाधा, मयूर-बाधा और मृग-बाधा देख तो हाथ पर हाथ रखकर बैठे ही रहना पड़ेगा।

बहुत लोगों ने देखा होगा कि भौंरे आदमी के पीछे अकसर लग जाते हैं, कान और मुँह के पास मँडराया करते हैं और हटाने से जल्दी हटते नहीं। इसी बात पर स्त्रियों में यह प्रवाद प्रचलित है कि जब कोई परदेश में होता है, तब उसका सँदेसा कहने के लिये भौंरे आकर कान के पास मँडराया करते हैं। अतः इस प्रकार की पुरानी उक्तियों में जो सौंदर्य है, वह हमें अतिशयोक्ति में न दिखाई देकर स्वभावसिद्ध वस्तु द्वारा व्यंग्य हेतूत्प्रेक्षा में दिखाई पड़ता है। जैसे भौंरा जो बार बार मुँह के पास जाता है, वह मानों मुख को कमल समझने के कारण।

छोटे छोटे संचारी भावों की स्वतंत्र व्यंजना भी गोस्वामीजी ने जिस मार्मिकता से की है, उससे मानवी प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण प्रकट होता है। उन्होंने ऐसे ऐसे भावों का चित्रण किया है जिनकी ओर किसी कवि का ध्यान तक नहीं गया है। संचारियों के भीतर वे गिनाए तो गए नहीं हैं। फिर ध्यान जाता कैसे? सीता के संबंध में राम लोक-ध्वनि चरों के द्वारा सुनते हैं—

चरचा चरनि सों चरची जानमनि रघुराइ।
दूत-मुख सुनि लोक-धुनि घर घरनि बूझी आइ॥

मर्य्यादास्तंभ राम लोक-मत पर सीता को वन में भेज देते हैं। लक्ष्मण उन्हें वाल्मीकि के आश्रम में छोड़ आँखों में आँसू भरे लौट रहे हैं। उस अवसर पर—

दीनबंधु दयालु देवर देखि अति अकुलानि।
कहति बचन उदास तुलसीदास त्रिभुवन-रानि॥

ऐसे अवसर पर सीता ऐसी गंभीर-हृदया देवी का यह 'उदासीन भाव' प्रकट करना कितना स्वाभाविक है—

तौ लौं बलि आपुही कीबी बिनय समुझि सुधारि।
जौ लौं हौं सिखि लेउँ बन ऋषि-रीति बसि दिन चारि॥
तापसी कहि कहा पठवति नृपनि को मनुहारि।
बहुरि तिहि बिधि आइ कहिहै साधु कोउ हितकारि॥
लषन लाल कृपाल! निपटहिं डारिबी न बिसारि।
पालबी सब तापसनि ज्यों राजधर्म बिचारि॥
सुनत सीता-बचन मोचत सकल लोचन-बारि।
बालमीकि न सके तुलसी सो सनेह सँभारि॥

काव्य के भाव-विधान में जिस 'उदासीनता' का सन्निवेश होगा, वह खेद-व्यंजक ही होगी—यथार्थ में 'उदासीनता' न होगी। इसे विषाद, क्षोभ आदि से उत्पन्न क्षणिक मानसिक शैथिल्य सम-

भिए। कैकेयी को समझाते समय मंथरा के मुख से भी इस उदासीनता की व्यंजना गोस्वामीजी ने बड़ी मार्मिकता से कराई है। राम के अभिषेक पर दुःख प्रकट करने के कारण जब मंथरा को कैकेयी बुरा-भला कहती है, तब वह कहती है—

हमहुँ कहब अब ठकुरसोहाती। नाहिं त मौन रहब दिन-राती॥
कोउ नृप होउ हमहिं का हानी। चेरि छाँड़ि अब होब कि रानी॥

हिंदी कवियों में तुलसी ऐसे भावुक के सिवा इस गूढ़ भाव तक और किसकी पहुँच हो सकती है? और कौन ऐसे उपयुक्त पात्र में और ऐसे उपयुक्त अवसर पर उसका विधान कर सकता है? इस "उदासीनता" के भाव का आविष्कार उन्हीं का काम था। सूरदास ने इसका कुछ आभास मात्र यशोदा के उस सँदेसे में दिया है जो उन्होंने कृष्ण के मथुरा चले जाने पर देवकी के पास भेजा था—

सँदेसो देवकी सों कहियो।
हौं तो धाय तिहारे सुत की कृपा करत ही रहियो॥

'आश्चर्य्य' को लेकर कविजन 'अद्भुतरस' का विधान करते हैं जिसमें कुतूहलवर्द्धक बातें हुआ करती हैं। पर इस आश्चर्य्य से मिलता-जुलता एक और हलका भाव होता है जिसे, कोई और अच्छा नाम न मिलने के कारण हम, 'चकपकाहट' कह सकते हैं और आश्चर्य्य के संचारी के रूप में रख सकते हैं। पाश्चात्य मनोविज्ञानियों ने दोनों (Wonder और Surprise) में भेद किया है। आश्चर्य्य किसी विलक्षण बात पर होता है—ऐसी बात पर होता है जो साधारणतः नहीं हुआ करती। 'चकपकाहट' किसी ऐसी बात पर होती है जिसकी कुछ भी धारणा हमारे मन में न रही हो, और जो एकाएक हो जाय। जैसे, किसी दूर देश में रहनेवाले मित्र को सहसा अपने सामने देखकर हम 'चकपका' उठते हैं। राम का सेतु बाँधना सुन रावण चकपकाकर कहता है—

बांधे बननिधि ? नीरनिधि ? जलधि ? सिंधु ? बारीस ?
सत्य, तोयनिधि ? कंपती ? उदधि ? पयोधि ? नदीस ?

यह ऐसा ही है जैसा सहसा किसी का मरना सुनकर चकपकाकर पूछना—"अरे कौन ? रामप्रसाद के बाप ? माताप्रसाद के लड़के ? शिवप्रसाद के भाई ? अमुक स्टेट के मैनेजर ?" इस भाव का प्रत्यक्षीकरण भी यह सूचित करता है कि गोस्वामीजी सब भावों को अपने अंतःकरण में देखनेवाले थे, केवल लक्षण-ग्रंथों में देखकर उनका सन्निवेश करनेवाले नहीं।

दूसरों का उपहास करते तो आपने बहुत लोगों को देखा होगा, पर कभी आपने मनुष्य की उस अवस्था पर भी ध्यान दिया है जब वह पश्चात्ताप और ग्लानि वश अपना उपहास आप करता है ? गोस्वामीजी ने उस पर भी ध्यान दिया है। उनकी अंतर्दृष्टि के सामने वह अवस्था भी प्रत्यक्ष हुई है। सोने के हिरन के पीछे अपनी सोने की सीता को खोकर राम वन वन विलाप करते फिरते हैं; मृग उन्हें देखकर भागते हैं; और फिर जैसा कि उनका स्वभाव होता है, थोड़ी दूर पर जाकर खड़े हो जाते हैं। इस पर राम कहते हैं—

हमहिं देखि मृग-निकर पराहीं। मृगी कहहिं तुम्ह कहँ भय नाहीं॥
तुम आनंद करहु मृगजाए। कंचनमृग खोजन ये आए॥

कैसी क्षोभपूर्ण आत्मनिंदा है !

यहाँ एक और बात ध्यान देने की है। कवि ने मृगों के ही भय का क्यों नाम लिया ? मृगियों को भय क्यों नहीं था ? बात यह है कि आखेट की यह मर्य्यादा चली आती है कि मादा के ऊपर अस्त्र न चलाया जाय। शिकार खेलनेवालों में यह बात प्रसिद्ध है। यहाँ गोस्वामीजी का लोक-व्यवहार-परिचय प्रकट होता है।

देखिए 'श्रम' की व्यंजना किस कोमलता के साथ गोस्वामीजी करते हैं। सीता राम-लक्ष्मण के साथ पैदल वन की ओर चली हैं—

(क) पुर तें निकसी रघुबीर-बधू, धरि धीर दए मग में डग द्वै।
झलकी भरि भाल कनी जल की, पुट सूखि गए मधुराधर वै॥
फिरि बूझति हैं "चलनो अब केतिक, पर्नकुटी करिहौ कित ह्वै?"
तिय की लखि आतुरता पिय की अँखियाँ अति चारु चली जल च्वै॥

(ख) "जल को गए लक्खन हैं लरिका, परिखौ, पिय! छाँह घरीक ह्वै ठाढ़े।
पोंछि पसेउ बयारि करौं, अरु पायँ पखारिहौं भूभुरि डाढ़े॥"
तुलसी रघुबीर प्रिया-स्रम जानिकै, बैठि बिलंब लौं कंटक काढ़े।
जानकी नाह को नेह लख्यो, पुलको तनु, बारि बिलोचन बाढ़े॥

कुलवधू के 'श्रम' की यह व्यंजना कैसी मनोहर है! यह 'श्रम' स्वतंत्र है, किसी और भाव का संचारी होकर नहीं आया है।

गोस्वामीजी को मनुष्य की अंतःप्रकृति की जितनी परख थी उतनी हिंदी के और किसी कवि को नहीं। कैसे अवसर पर मनुष्य के हृदय में स्वभावतः कैसे भाव उठते हैं, इसकी वे बहुत सटीक कल्पना करते थे। राम के अयोध्या लौटने पर जब सुग्रीव और विभीषण ने राम और भरत का मिलना देखा तब उनके चित्त में क्या आया होगा, यह देखिए—

सधन चोर मग मुदित मन धनी गही ज्यों फेंट।
त्यों सुग्रीव विभीषनहि भई भरत की भेंट॥

रास्ते भर तो वे बहुत ही प्रसन्न आए होंगे और राम के साथ रहने के कारण अपने को गौरवशाली—शायद साधु और सज्जन भी—समझते रहे होंगे। पर यह महत्त्व उनका निज का अर्जित नहीं था, केवल राम की कृपा से मिला हुआ था। वे जो उसे अपना अर्जित समझते आ रहे थे, यह उनका भ्रम था। उनका यह भ्रम राम और भरत का मिलना देखकर दूर हो गया। वे ग्लानि से गड़ गए। उनके मन में आया कि एक भाई भरत हैं और एक हम लोग हैं जिन्होंने अपने भाइयों के साथ ऐसा व्यवहार किया।

इस प्रसंग को समाप्त करने का वादा शायद अभी किया जा चुका है। बस, दो बातें और कहनी हैं। कवि लोग अर्थ और वर्ण-विन्यास के विचार से जिस प्रकार शब्द-शोधन करते हैं, उसी प्रकार अधिक मर्मस्पर्शी और प्रभावोत्पादक दृश्य उपस्थित करने के लिये व्यापार शोधन भी करते हैं। बहुत से व्यापारों में जो व्यापार अधिक प्राकृतिक होने के कारण स्वभावत: हृदय को अधिक स्पर्श करनेवाला होता है, भावुक कवि की दृष्टि उसी पर जाती है। यह चुनाव दो प्रकार से होता है। कहीं तो (१) चुना हुआ व्यापार उपस्थित प्रसंग के भीतर ही होता है या हो सकता है, अर्थात् उस व्यापार और प्रसंग का व्याप्य-व्यापक संबंध होता है और वह व्यापार उपलक्षण मात्र होता है; और कहीं (२) चुना हुआ व्यापार प्रस्तुत व्यापार से सादृश्य रखता है; जैसे, अन्योक्ति में। गोस्वामीजी ने दोनों प्रकार के चुनाव में अपनी स्वाभाविक सहृदयता दिखाई है।

(१) प्रथम पद्धति का अवलंबन ऐसी स्थिति को अंकित करने में होता है जिसके अंतर्गत बहुत से व्यापार हो सकते हैं और सब व्यापारों का वाच्य एक सामान्य शब्द हुआ करता है; जैसे अत्याचार, दैन्य, दु:ख, सुख इत्यादि। अत्याचार शब्द के अंतर्गत डाँटने-डपटने से लेकर मारना पीटना, जलाना, स्त्री-बालकों की हत्या करना, न जाने कितने व्यापार समझे जाते हैं। इसी प्रकार दीन दशा के भीतर खाने-पहनने की कमी से लेकर द्वार द्वार फिरना, दाँत निकालकर माँगना, किसी के दरवाजे पर अड़कर बैठना और हटाने से भी न हटना ये सब गोचर दृश्य आते हैं। इन दृश्यों में जो सब से अधिक मर्मस्पर्शी होता है, भावुक कवि उसी को सामने रखकर, उसी को सबका उपलक्षण बनाकर, स्थिति को हृदयंगम करा देता है। गोस्वामीजी ने अपने दैन्य भाव का चित्रण स्थान स्थान पर इसी पद्धति से किया है। कुछ उदाहरण लीजिए—

कहा न कियो, कहाँ न गयो, सीस काहि न नायो ?
हा हा करि दीनता कही, द्वार द्वार बार बार, परी न छार मुँह बायो।
महिमा मान प्रिय प्रान तें तजि, खोलि खलन आगे खिनु खिनु पेट खलायो।

इसका अर्थ यह नहीं है कि तुलसीदासजी सचमुच द्वार द्वार पेट खलाते और डाँट-फटकार सुनते फिरा करते थे।

कहीं राजा राम के द्वार पर खड़े अपनी दीनता का चित्र आप देखते हैं—

राम सों बड़ो है कौन, मो सों कौन छोटो ?
राम सों खरो है कौन, मो सों कौन खोटो ?

सारी विनयपत्रिका का विषय यही है—राम की बड़ाई और तुलसी की छोटाई। दैन्यभाव जिस उत्कर्ष को गोस्वामीजी में पहुँचा है, उस उत्कर्ष को और किसी भक्त कवि में नहीं। इस भाव-रहस्य से अनभिज्ञ और इस उपलक्षण-पद्धति को न समझनेवाले ऊपर के पदों को देख यदि कहें कि तुलसीदासजी बड़े भारी मंगन थे, हटाने से जल्दी हटते नहीं थे और खुशामदी भी बड़े भारी थे, तो उनका प्रतिवाद करना समय नष्ट करना ही है। खेद इस बात पर अवश्य होता है कि 'स्वतंत्र आलोचना' का ऐसा स्थूल और भद्दा अर्थ समझनेवाले भी हमारे बीच वर्त्तमान हैं। एक स्थान पर गोस्वामीजी कहते हैं—

खीझिबे लायक करतब कोटि कोटि कटु,
रीझिबे लायक तुलसी की निलजई।

इस पर यदि कोई कह दे कि तुलसीदासजी बड़े भारी बेहया थे, तो उसकी क्या दवा है ?

तुलसीदासजी को जब स्वामी के प्रति अपने प्रेम की अनन्यता की इस प्रकार प्रतीति हो जाती है कि "जानत जहान मन मेरे हू गुमान बड़ो, मान्यो मैं न दूसरो, न मानत, न मानिहौं" तब प्रेमाधिक्य

से वे कुछ मुँहलगे हो जाते हैं और कभी कभी ऐसी बातें भी कह देते हैं—

हौं अब लौं करतूति तिहारिय चितवत हुतो न रावरे चेते।

अब तुलसी पूतरो बाँधिहै सहि न जात मोपै परिहास एते॥

पर ऐसी गुस्ताखी कभी नहीं करते कि "आपने करम भवनिधि पार करौं जौ तो हम करतार, करतार तुम काहे के?"

देखिए, संसार की अशांति का चित्र कैसा मर्मस्पर्शी और प्राकृतिक जीवन-व्यापार उपलक्षण के रूप में चुनकर वे अंकित करते हैं—

डासत ही गई बीति निसा सब कबहुँ न, नाथ! नींद भरि सोयो।

(२) प्रस्तुत व्यापार के स्थान पर उसी के सदृश अप्रस्तुत व्यापार चुनने में भी गोस्वामीजी ने प्रभावोत्पादक प्राकृतिक दृश्यों की परख का पूर्ण परिचय दिया है। प्रेमभाव का उत्कर्ष दिखाने के लिये उन्होंने चातक और मीन को पकड़ा है। दोहावली के भीतर चातक की अन्योक्तियाँ प्रेमी भक्तों के हृदय का सर्वस्व हैं। यही चातकता और मीनता वे जीवन भर चाहते रहे—"करुणानिधान! बरदान तुलसी चहत सीतापति-भक्ति-सुरसरि-नीर-मीनता।" अन्योक्ति आदि के लिये भी वे तत्काल हृदय में चुभनेवाला दृश्य लाकर खड़ा कर देते हैं। इससे प्रस्तुत विषय के संबंध में जो भाव उत्पन्न करना इष्ट होता है, वह भाव थोड़ी देर के लिये अवश्य उत्पन्न होता है। प्रासादों में सुख से रहनेवाली सीता वन में कैसे रह सकेंगी—

नव-रसाल-बन-बिहरन-सीला। सोह कि कोकिल बिपिन करीला।

शील-निरूपण और चरित्र-चित्रण

रस-संचार से आगे बढ़ने पर हम काव्य की उस उच्च भूमि में पहुँचते हैं जहाँ मनोविकार अपने क्षणिक रूप में ही न दिखाई देकर जीवन-व्यापी रूप में दिखाई पड़ते हैं। इसी स्थायित्व की प्रतिष्ठा द्वारा शील-निरूपण और पात्रों का चरित्र-चित्रण होता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस उच्च भूमि में आने पर फुटकरिए कवि पीछे छूट जाते हैं; केवल प्रबंध-कुशल कवि ही दिखाई पड़ते हैं। खेद के साथ कहना पड़ता है कि गोस्वामीजी को छोड़ हिंदी का और कोई पुराना कवि इस क्षेत्र में नहीं दिखाई पड़ता। चारण-काल के चंद आदि कवियों ने भी प्रबंध-रचना की है; पर उसमें चरित्र-चित्रण को वैसा स्थान नहीं दिया गया है, वीरोल्लास ही प्रधान है। जायसी आदि मुसलमान कवियों की प्रबंध-धारा केवल प्रेम-पथ का निदर्शन करती गई है। दोनों प्रकार के आख्यानों में मनोविकारों के इतने भिन्न भिन्न प्रकृतिस्थ स्वरूप नहीं दिखाई पड़ते जिन्हें हम किसी व्यक्ति या समुदाय-विशेष का लक्षण कह सकें।

रस-संचार मात्र के लिये किसी मनोविकार की एक अवसर पर पूर्ण व्यंजना ही काफी होती है। पर किसी पात्र में उसे शील रूप में प्रतिष्ठित करने के लिये कई अवसरों पर उसकी अभिव्यक्ति दिखानी पड़ती है। रामचरितमानस के भीतर राम, भरत, लक्ष्मण, दशरथ और ~~लक्ष्मण~~, ये कई पात्र ऐसे हैं जिनके स्वभाव और मानसिक प्रवृत्ति की विशेषता गोस्वामीजी ने, कई अवसरों पर प्रदर्शित भावों और आचरणों की एकरूपता दिखाकर, प्रत्यक्ष की है।

पहले राम को लीजिए और इस बात का ध्यान रखिए कि प्रधान पात्र होने के कारण जितनी भिन्न भिन्न परिस्थितियों में

उनका जीवन दिखाया गया है, और किसी पात्र का नहीं। भिन्न भिन्न मनोविकारों को उभारनेवाले जितने अधिक अवसर उनके सामने आए हैं, उतने और किसी पात्र के सामने नहीं। लक्ष्मण भी प्रत्येक परिस्थिति में उनके साथ रहे, इससे उनके संबंध में भी यही कहा जा सकता है। सारांश यह कि राम-लक्ष्मण के चरित्रों का चित्रण आख्यान के भीतर सबसे अधिक व्यापक होने के कारण सबसे अधिक पूर्ण है। भरत का चरित्र जितना अंकित है, उतना सबसे उज्ज्वल, सबसे निर्मल और सबसे निर्दोष है। पर साथ ही यह भी है कि वह उतना अधिक अंकित नहीं है। राम से भी अधिक जो उत्कर्ष उनमें दिखाई पड़ता है, वह बहुत कुछ चित्रण की अपूर्णता के कारण—उतनी अधिक परिस्थितियों में उसके न दिखाए जाने के कारण जितनी अधिक परिस्थितियों में राम-लक्ष्मण का चरित्र दिखाया गया है। पर इसमें भी कोई संदेह नहीं कि जिस परिस्थिति में भरत दिखाए गए हैं, उससे बढ़कर शील की कसौटी हो ही नहीं सकती।

अनंत शक्ति के साथ धीरता, गंभीरता और कोमलता 'राम' का प्रधान लक्षण है। यही उनका 'रामत्व' है। अपनी शक्ति की स्वानुभूति ही उस उत्साह का मूल है जिससे बड़े बड़े दुःसाध्य कर्म होते हैं। बाल्यावस्था में ही जिस प्रसन्नता के साथ दोनों भाइयों ने घर छोड़ा और विश्वामित्र के साथ बाहर रहकर अस्त्र-शिक्षा प्राप्त की तथा विघ्नकारी विकट राक्षसों पर पहले पहल अपना बल आजमाया, वह उस उल्लासपूर्ण साहस का सूचक है जिसे 'उत्साह' कहते हैं। छोटी अवस्था में ही ऐसे विकट प्रवास के लिए जिनकी धड़क खुलती हमने देखी, उन्हीं को पीछे चौदह वर्ष वन में रहकर अनेक कष्टों का सामना करते हुए जगत् को क्षुब्ध करनेवाले कुंभकर्ण और रावण ऐसे राक्षसों को मारते हुए हम देखते

हैं। इस प्रकार जिन परिस्थितियों के बीच वीर-जीवन का विकास होता है, उनकी परंपरा का निर्वाह हम क्रम से रामचरित में देखते हैं। राम और लक्ष्मण ये दो अद्वितीय वीर हम उस समय पृथ्वी पर पाते हैं। वीरता की दृष्टि से हम कोई भेद दोनों पात्रों में नहीं कर सकते। पर सीता के स्वयंवर में दोनों भाइयों के स्वभाव में जो पार्थक्य दिखाई पड़ा उसका निर्वाह हम अंत तक पाते हैं। जनक के परिताप-वचन पर उग्रता और परशुराम की बातों के उत्तर में जो चपलता हम लक्ष्मण में देखते हैं, उसे हम बराबर अवसर अवसर पर देखते चले जाते हैं। इसी प्रकार राम की जो धीरता और गंभीरता हम परशुराम के साथ बातचीत करने में देखते हैं, वह बराबर आगे आनेवाले प्रसंगों में हम देखते जाते हैं। इतना देखकर तब हम कहते हैं कि राम का स्वभाव धीर और गंभीर था और लक्ष्मण का उग्र और चपल।

धीर, गंभीर और सुशील अंतःकरण की बड़ी भारी विशेषता यह होती है कि वह दूसरे में बुरे भाव का आरोप जल्दी नहीं कर सकता। सारे अवध-वासियों को लेकर भरत को चित्रकूट की ओर आते देख लक्ष्मण कहते हैं—

कुटिल कुबंधु कु-अवसर ताकी। जानि राम बनबास एकाकी॥
करि कुमंत्र मन, साजि समाजू। आए करइ अकंटक राजू॥

और तुरंत इस अनुमान पर उनकी त्योरी चढ़ जाती है—

जिमि करि-निकर दलइ मृगराजू। लेइ लपेटि लवा जिमि बाजू॥
तैसेहि भरतहि सेन समेता। सानुज निदरि निपातउँ खेता॥

पर राम के मन में भरत के प्रति ऐसा संदेह होता ही नहीं है। अपनी सुशीलता के बल से उन्हें उनकी सुशीलता पर पूरा विश्वास है। वे तुरंत समझाते हैं—

सुनहु लषन भल भरत सरीसा। बिधि-प्रपंच महँ सुना न दीसा॥

भरतहि होइ न राज-मद बिधि-हरि-हर-पद पाइ।
कबहुँ कि काँजी-सीकरनि छीर-सिंधु बिनसाइ॥

सुमंत जब राम लक्ष्मण को विदा कर अयोध्या लौटने लगते हैं, तब रामचंद्रजी अत्यंत प्रेम भरा सँदेसा पिता से कहने को कहते हैं जिसमें कहीं से खिन्नता या उदासीनता का लेश नहीं है। वे सारथी को बहुत तरह से समझाकर कहते हैं—

सब बिधि सोइ करतब्य तुम्हारे। दुख न पाव पितु सोच हमारे॥

यह कहना लक्ष्मण को अच्छा नहीं लगता। जिस निष्ठुर पिता ने स्त्री के कहने में आकर वनवास दिया, उसे भला सोच क्या होगा? पिता के व्यवहार की कठोरता के सामने लक्ष्मण का ध्यान उनके सत्य-पालन और परवशता की ओर न गया, उनकी वृत्ति इतनी धीर और संयत न थी कि वे इतनी दूर तक सोचने जाते। पिता के प्रति कुछ कठोर वचन वे कहने लगे। पर राम ने उन्हें रोका और सारथी से बहुत विनती की कि लक्ष्मण की ये बातें पिता से न कहना।

पुनि कछु लषन कही कटु बानी। प्रभु बरजेउ बड़ अनुचित जानी॥
सकुचि राम निज सपथ दिवाई। लषन-सँदेसु कहिय जनि जाई॥

यह 'सकुचि' शब्द कितना भाव-गर्भित है। यह कवि की सूक्ष्म अंतर्दृष्टि सूचित करता है। मनुष्य का जीवन सामाजिक है। वह समाज-बद्ध प्राणी है। उसे अपने ही आचरण पर लज्जा या संकोच नहीं होता; अपने कुटुंबी, इष्ट-मित्र या साथी के भद्दे आचरण पर भी होता है। पुत्र की करतूत सुनकर पिता का सिर नीचा होता है, भाई की करतूत सुनकर भाई का। इस बात का अनुभव तो हम बराबर करते हैं कि हमारा साथी हमारे सामने यदि किसी से बातचीत करते समय भद्दे या अश्लील शब्दों का प्रयोग करता है, तो हमें लज्जा मालूम होती है। यह संकोच राम की सुशीलता

और लोक-मर्यादा का भाव व्यंजित करता है। मर्यादापुरुषोत्तम का चरित्र ऐसे ही कवि के हाथ में पड़ने योग्य था।

सुमंत ने अयोध्या लौटकर राजा से लक्ष्मण की कही हुई बातें तो न कहीं, पर इस घटना का उल्लेख बिना किए उससे न रहा गया। क्यों? क्या लक्ष्मण से उससे कुछ शत्रुता थी? नहीं। राम के शील का जो अद्भुत उत्कर्ष उसने देखा, उसे वह हृदय में न रख सका। सुशीलता के मनोहर दृश्य का प्रभाव मानव-अंत:करण पर ऐसा ही पड़ता है। सुमंत को राम की आज्ञा के विरुद्ध कार्य करने का दोष अपने ऊपर लेना कबूल हुआ; पर उस शील-सौंदर्य की झलक अपने ही तक वह न रख सका, दशरथ को भी उसे उसने दिखाया। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस अंतिम झलक ने राजा को और भी उस मृत्यु के पास तक पहुँचा दिया होगा जो आगे चलकर दिखाई गई है। इसे कहते हैं घटना का सूक्ष्म क्रम-विन्यास।

राम और लक्ष्मण के स्वभाव-भेद का बस एक और चित्र दिखा देना काफी होगा। समुद्र के किनारे खड़े होकर समुद्र से विनय करते करते राम को तीन दिन बीत गए। तब जाकर राम को क्रोध आया और "भय बिनु होइ न प्रीति" वाली नीति की ओर उनका ध्यान गया। वे बोले—

लछिमन बान-सरासन आनू। सोखउँ बारिधि बिसिख-कृसानू॥
अस कहि रघुपति चाप चढ़ावा। यह मत लछिमन के मन भावा॥

जिसके बाण खींचते ही "उठी उदधि उर-अंतर ज्वाला" उसने पहले तीन दिनों तक हर एक प्रकार से विनय की। विनय की मर्यादा पूरी होते ही राम ने अपना अतुल पराक्रम प्रकट किया जिसे देख लक्ष्मण को संतोष हुआ। विनयवाली नीति उन्हें पसंद न थी। एक बार, दो बार कह देना ही वे काफी समझते थे।

वाल्मीकि ने राम के वनवास की आज्ञा पर लक्ष्मण के महा-क्रोध का वर्णन किया है। पर न जाने क्यों वहाँ तुलसीदासजी इसे बचा गए हैं।

चित्रकूट में अपनी कुटिलता का अनुभव करती हुई कैकेयी से राम बार बार इसलिये मिलते हैं कि उसे यह निश्चय हो जाय कि उनके मन में उस कुटिलता का ध्यान कुछ भी नहीं है और उसकी ग्लानि दूर हो। वे बार बार उसके मन में यह बात जमाना चाहते हैं कि जो कुछ हुआ, उसमें उसका कुछ भी दोष नहीं है। अपने साथ बुराई करनेवाले के हृदय को शांत और शीतल करने की चिंता राम के सिवा और किसको हो सकती है ? दूसरी बात यह ध्यान देने की है कि राम का यह शील-प्रदर्शन उस समय हुआ, जिस समय कैकेयी का अंतःकरण अपनी कुटिलता का पूर्ण अनुभव करने के कारण इतना द्रवीभूत हो गया था कि शील का संस्कार उस पर सब दिन के लिये जम सकता था। गोस्वामीजी के अनुसार हुआ भी ऐसा ही—

> कैकेयी जौ लौं जियति रही।
> तौ लौं बात मातु सों मुँह भरि भरत न भूलि कही।
> मानी राम अधिक जननी तें, जननिहु गँस न गही॥

इतने पर भी कहीं गाँस रह सकती है ?

गार्हस्थ्य जीवन के दांपत्य भाव के भीतर सबसे मनोहर वस्तु है उनकी 'एक भार्या' की मर्यादा। इसके कारण यहाँ से वहाँ तक जिस गौरवपूर्ण माधुर्य का प्रसार दिखाई देता है, वह अनिर्वच-नीय है। इसकी उपयोगिता का पक्ष दशरथ के चरित्र पर विचार करते समय दिखाया जायगा।

भक्तों को सबसे अधिक वश में करनेवाला राम का गुण है शरणा-गत की रक्षा। अत्यंत प्राचीन काल से ही शरण-प्राप्त की रक्षा करना

भारतवर्ष में बड़ा भारी धर्म माना जाता है। इस विषय में भारत की प्रसिद्धि सारे सभ्य जगत् में थी। सिकंदर से हारकर पारस का सम्राट् दारा जब भाग रहा था, तब उसके तीन साथी सरदारों ने विश्वासघात करके उसे मार डाला। उनमें से एक शकस्थान (सीस्तान) का क्षत्रप वरजयंत था। जब सिकंदर ने दंड देने के लिये इन तीनों विश्वासघातियों का पीछा किया, तब वरजयंत ने भारतवासियों के यहाँ आकर शरण ली और बच गया। प्राचीन यहूदियों के एक जत्थे का गांधार और दक्षिण में शरण पाना प्रसिद्ध है। इस्लाम की तलवार के सामने कुछ प्राचीन पारसी जब अपने आर्य-धर्म की रक्षा के लिये भागे तब भारतवर्ष ही की ओर उनका ध्यान गया; क्योंकि शरणागत की रक्षा यहाँ प्राण देकर की जाती थी। अपनी हानि के भय से शरणागत का त्याग बड़ा भारी पाप माना जाता है—

> सरनागत कहँ जे तजहिं, निज अनहित अनुमानि।
> ते नर पाँवर पाप-मय, तिनहिं बिलोकत हानि॥

शरणागत की रक्षा की चिंता रामचंद्र के हृदय से दारुण शोक के समय में भी दूर न हुई। सामने पड़े हुए लक्ष्मण को देखकर वे विलाप कर रहे हैं—

> मेरो सब पुरुषारथ थाको।
> बिपति-बँटावन बंधु-बाहु बिनु करौं भरोसो काको?
> सुनु सुग्रीव! साँचहू मो सन फेरयो बदन बिधाता।
> ऐसे समय समर-संकट हौं तज्यो लषन सो भ्राता॥
> गिरि-कानन जैहैं साखा-मृग, हौं पुनि अनुज-सँघाती।
> ह्वैहै कहा बिभीषन की गति, रही सोच भरि छाती॥

राम के चरित्र की इस उज्ज्वलता के बीच एक धब्बा भी दिखाई देता है। वह है बालि को छिपकर मारना। वाल्मीकि और तुलसीदासजी दोनों ने इस धब्बे पर कुछ सफेद रंग पोतने का प्रयत्न

किया है। पर हमारे देखने में तो यह धब्बा ही संपूर्ण रामचरित को उच्च आदर्श के अनुरूप एक कल्पना मात्र समझे जाने से बचाता है। यदि एक यह धब्बा न होता तो राम की कोई बात मनुष्य की सी न लगती और वे मनुष्यों के बीच अवतार लेकर भी मनुष्यों के काम के न होते। उनका चरित भी उपदेशक महात्माओं की केवल महत्त्वसूचक फुटकर बातों का संग्रह होता, मानव-जीवन की विशद अभिव्यक्ति सूचित करनेवाले संबद्ध काव्य का विषय न होता। यह धब्बा ही सूचित करता है कि ईश्वरावतार राम हमारे बीच हमारे भाई-बंधु बनकर आए थे और हमारे ही समान सुख-दुःख भोग-कर चले गए। वे ईश्वरता दिखाने नहीं आए थे, मनुष्यता दिखाने आए थे। भूल-चूक या त्रुटि से सर्वथा रहित मनुष्यता कहाँ होती है? इसी एक धब्बे के कारण हम उन्हें मानव-जीवन से तटस्थ नहीं समझते—तटस्थ क्या कुछ भी हटे हुए नहीं समझते हैं।

अब थोड़ा भरत के लोक-पावन निर्मल चरित्र की ओर ध्यान दीजिए। राम की बन-यात्रा के पहले भरत के चरित्र की शृंखला संघटित करनेवाली कोई बात हम नहीं पाते। उनकी अनुपस्थिति में ही राम के अभिषेक की तैयारी हुई, राम वन को गए। नानिहाल से लौटने पर ही उनके शील-स्वरूप का स्फुरण आरंभ होता है। नानिहाल में जब दुःस्वप्न और बुरे शकुन होते हैं, तब वे माता-पिता और भाइयों का मंगल मनाते हैं। कैकेयी के कुचक्र में अणु-मात्र योग के संदेह की जड़ यहीं से कट जाती है। कैकेयी के मुख से पिता के मरण का संवाद सुन वे शोक कर ही रहे हैं कि राम के वन-गमन की बात सामने आती है जिसके साथ अपना संबंध—नाम मात्र का सही—समझकर वे एकदम ठक हो जाते हैं। ऐसी बुरी बात के साथ संबंध जोड़नेवाली माता के रूप में नहीं दिखाई देती। थोड़ी देर के लिये उसकी ओर से मातृ-भाव हट सा जाता

है। ऐसा उज्ज्वल अंत:करण ऐसी घोर कालिमा की छाया का स्पर्श तक सहन नहीं कर सकता। यह छाया किस प्रकार हटे, इसी के यत्न में वे लग जाते हैं। हृदय का यह संताप बिना शांति-शील-समुद्र राम के सम्मुख हुए दूर नहीं हो सकता। वे चट विरह-व्यथित पुरवासियों को लिए-दिए चित्रकूट में जा पहुँचते हैं और अपना अंत:करण भरी सभा में लोकादर्श राम के सम्मुख खोलकर रख देते हैं। उस आदर्श के भीतर उसकी निर्मलता देख वे शांत हो जाते हैं और जिस बात से धर्म की मर्यादा रक्षित रहे, उसे करने की दृढ़ता प्राप्त कर लेते हैं।

भरत ने इतना सब क्या लोक-लज्जावश किया? नहीं, उनके हृदय में सच्ची आत्मग्लानि थी, सच्चा संताप था। यदि ऐसा न होता तो अपनी माता कैकेयी के सामने वे दु:ख और क्षोभ न प्रकट करते। यह आत्मग्लानि ही उनकी सात्त्विक वृत्ति की गहनता का प्रमाण है। इस आत्मग्लानि के कारण का अनुसंधान करने पर हम उस तत्त्व तक पहुँचते हैं जिसकी प्रतिष्ठा रामायण का प्रधान लक्ष्य है। आत्मग्लानि अधिकतर अपने किसी बुरे कर्म को सोचकर होती है। भरतजी कोई बुरी बात अपने मन में लाए तक न थे। फिर यह आत्मग्लानि कैसी? यह ग्लानि अपने संबंध में लोक की बुरी धारणा के अनुमान मात्र से उन्हें हुई थी। लोग प्राय: कहा करते हैं कि अपना मन शुद्ध है, तो संसार के कहने से क्या होता है? यह बात केवल साधना की ऐकांतिक दृष्टि से ठीक है, लोक-संग्रह की दृष्टि से नहीं। आत्मपक्ष और लोक-पक्ष दोनों का समन्वय रामचरित का लक्ष्य है। हमें अपनी अंतर्वृत्ति भी शुद्ध और सात्त्विक रखनी चाहिए और अपने संबंध में लोक की धारणा भी अच्छी बनानी चाहिए। जिसका प्रभाव लोक पर न पड़े, उसे मनुष्यत्व का पूर्ण विकास नहीं कह सकते। यदि हम वस्तुत: सात्त्विकशील हैं, पर

लोग भ्रमवश या और किसी कारण हमें बुरा समझ रहे हैं, तो हमारी सात्त्विकशीलता समाज के किसी उपयोग की नहीं। हम अपनी सात्त्विकशीलता अपने साथ लिए चाहे स्वर्ग का सुख भोगने चले जायँ, पर अपने पीछे दस-पाँच आदमियों के बीच दस-पाँच दिन के लिये भी कोई शुभ प्रभाव न छोड़ जायँगे। ऐसे ऐकांतिक जीवन का चित्रण जिसमें प्रभविष्णुता न हो, रामायण का लक्ष्य नहीं है। रामायण भरत ऐसे पुण्यश्लोक को सामने करता है जिनके संबंध में राम कहते हैं—

> मिटिहहिं पाप-प्रपंच सब अखिल-अमंगल-भार।
> लोक सुजस, परलोक सुख, सुमिरत नाम तुम्हार॥

जिन भरत को अयश की इतनी ग्लानि हुई, जिनके हृदय से धर्म-भाव कभी न हटा, उनके नाम के स्मरण से लोक में यश और परलोक में सुख दोनों क्यों न प्राप्त हों?

भरत के हृदय का विश्लेषण करने पर हम उसमें लोक-भीरुता, स्नेहार्द्रता, भक्ति और धर्म-प्रवणता का मेल पाते हैं। राम के आश्रम पर जाकर उन्हें देखते ही भक्ति-वश 'पाहि! पाहि!' कहते हुए वे पृथ्वी पर गिर पड़ते हैं। सभा के बीच में जब वे अपने हृदय की बात निवेदन करने खड़े होते हैं, तब भ्रातृस्नेह उमड़ आता है, बाल्यावस्था की बातें आँखों के सामने आ जाती हैं। इतने में ग्लानि आ दबाती है और वे पूरी बात भी नहीं कह पाते हैं—

> पुलकि सरीर सभा भए ठाढ़े। नीरज-नयन नेह-जल बाढ़े॥
> कहब मोर मुनिनाथ निबाहा। एहि तें अधिक कहौं मैं काहा?
> मैं जानौं निज-नाथ-सुभाऊ। अपराधिहु पर कोह न काऊ॥
>
> मो पर कृपा सनेह बिसेखी। खेलत खुनिस न कबहूँ देखी॥
> सिसुपन तें परिहरेउ न संगू। कबहुँ न कीन्ह मोर मन-भंगू॥
> मैं प्रभु-कृपा-रीति जिय जोही। हारेहु खेल जितावहिं मोही॥

महूँ सनेह-सकोच-बस सनमुख कहेउ न बैन।
दरसन-तृपित न आजु लगि पेम-पियासे नैन॥
बिधि न सकेहु सहि मोर दुलारा। नीच बीच जननी मिस पारा॥
यहउ कहत मोहिं आजु न सोभा। अपनी समुझि साधु सुचि को भा ?
मातु मंद, मैं साधु सुचाली। उर अस आनत कोटि कुचाली॥
फरइ कि कोदव बालि सुसाली। मुकुता प्रसव कि संबुक ताली॥
बिनु समुझे निज - अघ - परिपाकू। जारेउँ जाय जननि कहि काकू ?
हृदय हेरि हारेउँ सब ओरा। एकहि भाँति भलेहि भल मोरा॥
गुरु गोसाइँ, साहिब सिय-रामू। लागत मोहिं नीक परिनामू॥

भरत को इस बात पर ग्लानि होती है कि मैं आप अच्छा बनकर माता को भला-बुरा कहने गया। "अपनी समुझि साधु सुचि को भा ?" जिसे दस भले आदमी—पवित्र और सज्जन लोग, जड़ और नीच नहीं—साधु और शुचि मानें, उसी की साधुता और शुचिता किसी काम की है। इस ग्लानि के दुःख से उद्धार पाने की आशा एक इसी बात से होती है कि गुरु और स्वामी वशिष्ठ तथा राम ऐसे ज्ञानी और सुशील हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह आशा ऐसे दृढ़ आधार पर थी कि पूर्ण रूप से फलवती हुई। भरत केवल लोक की दृष्टि में पवित्र ही न हुए, लोक को पवित्र करनेवाले भी हुए। राम ने उन्हें धर्म का साक्षात् स्वरूप स्थिर किया और स्पष्ट कह दिया कि—

भरत ! भूमि रह राउरि राखी।

अब सत्य और प्रेम के विरोध में दोनों की एक साथ रक्षा करनेवाले परम यशस्वी महाराज दशरथ को लीजिए। वे राम को वनवास देने में सत्य की रक्षा और प्रतिज्ञा का पालन हृदय पर पत्थर रखकर—उमड़ते हुए स्नेह और वात्सल्य-भाव को दबाकर—करते हुए पाए जाते हैं। इसके उपरांत हम उन्हें स्नेह के निर्वाह में तत्पर

और प्रेम की पराकाष्ठा को पहुँचते हुए पाते हैं। सत्य की रक्षा उन्होंने प्रिय पुत्र को वनवास देकर और स्नेह की रक्षा प्राण देकर की। यही उनके चरित्र की विशेषता है—यही उनके जीवन का महत्त्व है। नियम और शील धर्म के दो अंग हैं। नियम का संबंध विवेक से है और शील का हृदय से। सत्य बोलना, प्रतिज्ञा का पालन करना नियम के अंतर्गत है। दया, क्षमा, वात्सल्य, कृतज्ञता आदि शील के अंतर्गत हैं। नियम के लिये आचरण ही देखा जाता है, हृदय का भाव नहीं देखा जाता। केवल नाम की इच्छा रखनेवाला पाखंडी भी नियम का पालन कर सकता है—और पूरी तरह कर सकता है। पर शील के लिये सात्त्विक हृदय चाहिए। कभी कभी ऐसी विकट स्थिति आ पड़ती है कि एक को गाह देने से दूसरे का उल्लंघन अनिवार्य हो जाता है। किसी निरपराध को फाँसी हुआ चाहती है। हम देख रहे हैं कि थोड़ा सा झूठ बोल देने से उसकी रक्षा हो सकती है। अतः एक ओर तो दया हमें झूठ बोलने की प्रेरणा कर रही है; दूसरी ओर 'नियम' हमें ऐसा करने से रोक रहा है। इतने भारी शील-साधन के सामने तो हमें अवश्य नियम शिथिल कर देना पड़ता है। पर जहाँ शीलपक्ष इतना ऊँचा नहीं है, वहाँ उभयपक्ष की रक्षा का मार्ग ढूँढ़ना पड़ेगा।

दशरथ के सामने दोनों पक्ष प्रायः समान थे—बल्कि यों कहिए कि नियम की ओर का पलड़ा कुछ झुकता हुआ था। एक ओर तो सत्य की रक्षा थी, दूसरी ओर प्राण से भी अधिक प्रिय पुत्र का स्नेह। पर पुत्र-वियोग का दुःख दशरथ के ही ऊपर पड़नेवाला था (कौशल्या के दुःख को भी परिजन का दुःख समझकर दशरथ का ही दुःख समझिए)। इससे अपने ऊपर पड़नेवाले दुःख के डर से सत्य का त्याग उनसे न करते बना। उन्होंने सत्य की रक्षा की, फिर अपने ऊपर पड़नेवाले दुःख की परमावस्था को पहुँचकर

स्नेह की भी रक्षा की। इस प्रकार सत्य और स्नेह, नियम और शील दोनों की रक्षा हो गई। रामचंद्रजी भरत को समझाते हुए इस विषय को स्पष्ट करके कहते हैं—

राखेउ राउ सत्य मोहिं त्यागी। तनु परिहरेउ प्रेम-पनु लागी॥

शील और नियम, आत्मपक्ष और लोक-पक्ष के समन्वय द्वारा धर्म की यही सर्वतोमुख रक्षा रामायण का गूढ़ रहस्य है। वह धर्म के किसी अंग को नोचकर दिखानेवाला ग्रंथ नहीं है। यह देखकर बार बार प्रसन्नता होती है कि आर्य्य-धर्म का यह सार-संपुट हिंदी कवियों में से एक ऐसे महात्मा के हाथ में पड़ा जिसमें उसके उद्घाटन की सामर्थ्य थी। देखिए, किस प्रकार उन्होंने राम के मुख से उपर्युक्त विवेचन का सार चौपाई के दो चरणों में ही कहला दिया।

रामायण की घटना के भीतर तो दशरथ का यह महत्त्व ही सामने आता है। पर कथोपकथन रूप में जो कवि-कल्पित चित्रण है, उसमें वाल्मीकि और तुलसीदास दोनों ने दशरथ की अंतर्वृत्ति का कुछ और भी आभास दिया है। विश्वामित्र जब बालक राम-लक्ष्मण को माँगने लगे, तब दशरथ ने देने में बहुत आगा-पीछा किया। वे सब कुछ देने को तैयार थे, पर पुत्रों को देना नहीं चाहते थे। वृद्धावस्था में पाए हुए पुत्रों पर इतना स्नेह स्वाभाविक ही था। वे मुनि से कहते हैं—

चौथे पन पाएउँ सुत चारी। बिप्र बचन नहिं कहेहु बिचारी॥
माँगहु भूमि धेनु धन कोसा। सरबस देउँ आजु सह रोसा॥
देह प्रान तें प्रिय कछु नाहीं। सोउ मुनि ! देउँ निमिष एक माहीं॥
सब सुत प्रीय प्रान की नाईं। राम देत नहिं बनइ गोसाईं॥

इससे प्रकट होता है कि उनका वात्सल्य-स्नेह ऐसा न था कि वे साधारण कारण-वश उसकी प्रेरणा के विरुद्ध कुछ करने जाते।

मुनि के साथ जो उन्होंने बालकों को कर दिया, वह एक तो शाप के भय से, दूसरे उनकी अस्त्र-शिक्षा की आशा से।

इस वृद्धावस्था में वे अपनी छोटी रानी के वश में थे, यह उस घबराहट से प्रकट होता है जो उसका कोप सुनकर उन्हें हुई। वे उसके पास जाकर कहते हैं—

अनहित तोर प्रिया केइ कीन्हा। केहि दुइ सिर, केहि जम चह लीन्हा॥
कहु केहि रंकहि करउँ नरेसू। कहु केहि नृपहिं निकासउँ देसू॥
जानसि मोर सुभाउ बरोरू! मन तव आनन-चंद-चकोरू॥
प्रिया! प्रान, सुत, सरबस मोरे। परिजन प्रजा सकल बस तोरे॥

प्राण, पुत्र, परिजन, प्रजा सबको कैकेयी के वश में कहना स्वयं राजा का कैकेयी के वश में होना अभिव्यंजित करता है। एक स्त्री के कहने से किसी मनुष्य को यमराज के यहाँ भेजने के लिये, किसी दरिद्र को राजा बनाने के लिये, किसी राजा को देश से निकालने के लिये तैयार होना स्त्रैण होने का ही परिचय देता है। कैकेयी के सामने जाने पर न्याय और विवेक थोड़ी देर के लिये विश्राम ले लेते थे। वाल्मीकिजी ने भी इसी प्रकार की बातें उस अवसर पर दशरथ से कहलाई हैं।

दशरथ के हृदय की इस दुर्बलता के चित्र के भीतर प्रचलित दांपत्य-विधान का वह दोष भी झलकता है जिसके पूर्ण परिहार का पथ आगे चलकर मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् रामचंद्र ने अपने आचरण द्वारा प्रदर्शित किया। आधी उम्र तक विवाह पर विवाह करते जाने का परिणाम अंत में एक ऐसा बे-मेल जोड़ा होता है जो सब मामलों का मेल बिगाड़ देता है और जीवन किरकिरा हो जाता है। एक में तो प्रेम रहता है, दूसरे में स्वार्थ। अतः एक तो दूसरे के वश में हो जाता है और दूसरा उसके वश के बाहर रहता है। एक तो प्रेम-वश दूसरे के सुख-संतोष के प्रयत्न में रहा करता है, दूसरा

उसके सुख-संतोष की वहीं तक परवा रखता है जहाँ तक उससे स्वार्थ-साधन होता है। राम ने 'एक भार्य्या' की मर्य्यादा द्वारा जिस प्रकार प्रेम के अपूर्व माधुर्य्य और सौंदर्य्य का विकास दिखाया, उसी प्रकार अपने पिता की परिस्थिति से भिन्न अपनी परिस्थिति भी लोक को दिखाई। कैकेयी ने एक बार दशरथ के साथ युद्ध-स्थल में जाकर पहिए में उँगली लगाई थी और उसके बदले में दो वरदान लिए थे, तो सीता चौदह वर्ष राम के साथ जंगलों-पहाड़ों में मारी मारी फिरीं, और उस मारे मारे फिरने को ही उन्होंने अपने लिये बड़ा भारी वरदान समझा। अंत में जब राजधर्म की विकट समस्या सामने आती है, तब हम राम को ठीक उसका उलटा करने में समर्थ पाते हैं जो दशरथ ने कैकेयी को प्रसन्न करने के लिये कहा था। दशरथ एकमात्र कैकेयी को प्रसन्न करने के लिये किसी राजा को बिना अपराध देश से निकालने के लिये तैयार हुए थे। पर राम प्रजा को प्रसन्न करने के लिये बिना किसी अपराध के प्राणों से भी प्रिय सीता को निकालने को तैयार हुए। दशरथ अपनी स्त्री के कहने से किसी राजा तक को देश से निकालते, पर राम ने एक धोबी तक के कहने से अपनी स्त्री को निकाल दिया। इतने पर भी सीता और राम में जो परस्पर गूढ़ प्रेम था, उसमें कुछ भी अंतर न पड़ा। सीता ने स्वामी के इस व्यवहार का कारण राजधर्म की कठोरता ही समझा। यह नहीं समझा कि राम का प्रेम मेरे ऊपर कम हो गया।

सात्त्विक, राजस और तामस इन तीन प्रकृतियों के अनुसार चरित्र-विभाग करने से दो प्रकार के चित्रण हम गोस्वामीजी में पाते हैं—आदर्श और सामान्य। आदर्श चित्रण के भीतर सात्त्विक और तामस दोनों आते हैं। राजस को हम सामान्य चित्रण के भीतर ले सकते हैं। इस दृष्टि से सीता, राम, भरत, हनुमान् और

सबल-आदर्श चित्रण के भीतर आवेंगे तथा दशरथ, लक्ष्मण, विभीषण, सुग्रीव, कैकेयी सामान्य चित्रण के भीतर। आदर्श चित्रण में हम या तो यहाँ से वहाँ तक सात्त्विक वृत्ति का निर्वाह पावेंगे या तामस का। प्रकृति-भेद-सूचक अनेकरूपता उसमें न मिलेगी। सीता, राम, भरत, ~~हनुमान्~~ ये सात्त्विक आदर्श हैं; ~~सबल तामस आदर्श है।~~

सात्त्विक आदर्शों का वर्णन हो चुका। हनुमान् के संबंध में इतना समझ रखना आवश्यक है कि वे सेवक के आदर्श हैं। सेव्य-सेवक भाव का पूर्ण स्फुरण उनमें दिखाई पड़ता है। बिना किसी प्रकार के पूर्वपरिचय के राम को देखते ही उनके शील, सौंदर्य्य और शक्ति के साक्षात्कार मात्र पर मुग्ध होकर पहले-पहल आत्म-समर्पण करनेवाले भक्तिराशि हनुमान् ही हैं। उनके मिलते ही मानों भक्ति के आश्रय और आलंबन दोनों पक्ष पूरे हो गए और भक्ति की पूर्ण स्थापना लोक में हो गई। इसी राम-भक्ति के प्रभाव से हनुमान् सब राम-भक्तों की भक्ति के अधिकारी हुए।

सेवक में जो जो गुण चाहिएँ, सब हनुमान् में लाकर इकट्ठे कर दिए गए हैं। सबसे आवश्यक बात तो यह है कि स्वामी के कार्य्यों के लिये, सब कुछ करने के लिये, उनमें निरलसता और तत्परता हम हर समय पाते हैं। समुद्र के किनारे सब बंदर बैठे समुद्र पार करने की चिंता कर ही रहे थे, अंगद फिरने का संशय करके आगा-पीछा कर ही रहे थे कि वे चट समुद्र लाँघ गए। लक्ष्मण को जब शक्ति लगी तब वैद्य को भी चट हनुमान् ही लाए और ओषधि के लिये भी पवन-वेग से वे ही दौड़े। सेवक को अमानी होना चाहिए। प्रभु के कार्य्य-साधन में उसे अपने मान-अपमान का ध्यान न रखना चाहिए। अशोक-वाटिका में से पकड़कर राक्षस उन्हें रावण के सामने ले जाते हैं। रावण उन्हें अनेक दुर्वाद

कहकर हँसता है। इस पर उन्हें कुछ भी क्रोध नहीं आता। अंगद की तरह "हैं तव दसन तोरिबे लायक" वे नहीं कहते हैं। ऐसा करने से प्रभु के कार्य्य मे हानि हो सकती थी। अपने मान का ध्यान करके स्वामी का कार्य्य बिगाड़ना सेवक का कर्त्तव्य नहीं। वे रावण से साफ कहते हैं—

मे हिं न कछु बाँधे कर लाजा। कीन्ह चहैं निज प्रभु कर काजा॥

जिस प्रकार राम राम थे, उसी प्रकार रावण रावण था। वह भगवान् को उन ललकारनेवालों में से था जिसकी ललकार पर उन्हें आना पड़ा था। बालकांड में गोस्वामीजी ने पहले उसके उन अत्याचारों का वर्णन करके जिनसे पीड़ित होकर दुनिया पनाह माँगती थी, तब राम का अवतार होना कहा है। वह उन राक्षसों का सरदार था जो गाँव जलाते थे, खेती उजाड़ते थे, चौपाए नष्ट करते थे, ऋषियों को यज्ञ आदि नहीं करने देते थे, किसी की कोई अच्छी चीज देखते थे तो छीन ले जाते थे और जिनके खाए हुए लोगों की हड्डियों से दक्खिन का जंगल भरा पड़ा था। चंगेजखाँ और नादिरशाह तो मानों लोगों को उसका कुछ अनुमान कराने के लिये आए थे। राम और रावण को चाहे अहुरमज्द और अहमान समझिए, चाहे खुदा और शैतान। फर्क इतना ही समझिए कि शैतान और खुदा की लड़ाई का मैदान इस दुनिया से जरा दूर पड़ता था और राम-रावण की लड़ाई का मैदान यह दुनिया ही थी।

ऐसे तामस आदर्श में धर्म के लेश का अनुसंधान निष्फल ही समझ पड़ेगा। पर हमारे यहाँ की पुरानी अक्ल के अनुसार धर्म के कुछ आधार बिना कोई प्रताप और ऐश्वर्य्य के साथ एक क्षण नहीं टिक सकता, रावण तो इतने दिनों तक पृथ्वी पर रहा। अत. उसमें धर्म का कोई न कोई अंग अवश्य था। वह अंग अवश्य था जिससे शक्ति और ऐश्वर्य्य की प्राप्ति होती है। उसमें कष्ट-सहिष्णुता थी।

वह बड़ा भारी तपस्वी था। उसकी धीरता में भी कोई संदेह नहीं है। भाई, पुत्र जितने कुटुंबी थे, सबके मारे जाने पर भी वह उसी उत्साह के साथ लड़ता रहा। अब रहे धर्म के सत्य आदि और अंग जो किसी वर्ग की रक्षा के लिये आवश्यक होते हैं। उनका पालन राक्षसों के बीच वह अवश्य करता रहा होगा। उसके बिना राक्षस-कुल रह कैसे सकता था ? पर धर्म का पूर्ण भाव लोक-व्यापकत्व में है। यों तो चोर और डाकू भी अपने दल के भीतर परस्पर के व्यवहार में धर्म बनाए रखते हैं। लोक-धर्म वह है जिसके आचरण से पहले तो किसी को दुःख न पहुँचे; यदि पहुँचे भी तो विरुद्ध आचरण करने से जितने लोगों को पहुँचता है, उससे कम लोगों को। सारांश यह कि रावण में केवल अपने लिये और अपने दल के लिये शक्ति अर्जित करने भर को धर्म था, समाज में उस शक्ति का सदुपयोग करनेवाला धर्म नहीं था। रावण पंडित था, तपस्वी था, राजनीति-कुशल था, धीर था, वीर था; पर सब गुणों का उसने दुरुपयोग किया। उसके मरने पर उसका तेज राम के मुख में समा गया। सत् से निकलकर जो शक्ति असत् रूप हो गई थी, वह फिर सत् में विलीन हो गई।

अब सामान्य चित्रण लीजिए। राम के साथ लक्ष्मण का शील-निरूपण कुछ हो चुका है। यहाँ केवल यही कहना है कि उनकी उग्रता ऐसी न थी जो करुणा या दया के गहरे अवसरों पर भी कोमलता या आर्द्रता न आने दे। सीता को जब वे वाल्मीकि के आश्रम पर छोड़ने गए थे, तब वे करुणभाव में मग्न थे। उनके मुँह से कोई बात न निकलती थी। वे राम के बड़े भारी आज्ञाकारी थे। वे अपने हृदय के वेग को सहकर भी उनकी आज्ञा का पालन करते थे। क्रोध उन्हें कटु वचन के लिये उभारता था, पर राम का रुख देखते ही वे चुप हो जाते थे। सीता के वनवास की कठोर आज्ञा

राम के मुख से सुनते ही वे सूख गए, करुणा से विह्वल हो गए। पर जी कड़ा करके वे सीता को पहुँचा आए। आज्ञाकारिता के लिये वे आदर्श हुए। पर यह नियम भी ऐसे अवसरों पर उन्होंने शिथिल कर दिया जब आज्ञा के पालन में उन्होंने अधिक हानि देखी और उल्लंघन का परिणाम केवल अपने ही ऊपर देखा। इन सब बातों के विचार से उनका चरित्र सामान्य के भीतर ही रखा है।

गृह-नीति की दृष्टि से विभीषण शत्रु से मिलकर अपने भाई और कुल का नाश करानेवाले दिखाई पड़ते हैं; पर और विस्तीर्ण क्षेत्र के भीतर लेकर देखने से उनके इस स्वरूप की कलुषता प्राय: नहीं के बराबर हो जाती है। गोस्वामीजी ने इसी विस्तृत दृष्टि से उनके चरित्र का चित्रण किया है। विभीषण राम-भक्त थे, अर्थात् सात्त्विक गुणों पर श्रद्धा रखनेवाले थे। वे राम के लोक-विश्रुत शील, शक्ति और सौंदर्य्य पर मुग्ध थे। भाई के राज्य के लोभ के कारण वे राम से नहीं मिले थे। इस बात का निश्चय उनके बार बार तिरस्कृत होने पर भी रावण को समझाते जाने से हो जाता है। यदि उन्हें राज्य का लोभ होता तो वे एक ओर तो रावण को युद्ध के लिये उत्तेजित करते, दूसरी ओर भीतर से शत्रु की सहायता करते। पर वे रावण की लात खाकर खुल्लमखुल्ला राम की शरण में यह कहते हुए गए—

राम सत्य-संकल्प प्रभु सभा काल-बस तोरि।
मैं रघुबीर-सरन अब, जाउँ, देहु जनि खोरि॥

लोभ-वश न सही, शायद विभीषण भाई के व्यवहार से रूठ-कर क्रोध-वश राम से जा मिले हों। इस संदेह का निवारण रावण के लात मारने पर विभीषण का कुछ भी क्रोध न करना दिखाकर गोस्वामीजी ने किया है। लात मारने पर विभीषण इतना ही कहते हैं—

तुम पितु-सरिस भलेहिं मोहिं मारा।
राम भजे हित, नाथ, तुम्हारा *॥

इस स्थल पर गोस्वामीजी का चरित्र-निर्वाह-कौशल झलकता है। यदि यहाँ थोड़ी सी भी असावधानी हो जाती, विभीषण क्रोध करते हुए दिखा दिए जाते, तो जिस रूप में विभीषण का चरित्र वे दिखलाया चाहते थे, वह बाधित हो जाता। अधिकतर यही समझा जाता कि क्रोध के आवेश में विभीषण ने रावण का साथ छोड़ा। कवि ने विभीषण को साधु प्रकृति का बनाया है। हरी हुई सीता को लौटाने के बदले रावण का राम से लड़ने के लिये तैयार होना असाधुता की चरम सीमा थी, जिसे विभीषण की साधुता न सह सकी, गोस्वामीजी का पक्ष यह है। विभीषण की साधुता औसत दरजे की थी। वह इतनी बड़ी नहीं थी कि राम द्वारा दिए हुए भाई के राज्य की ओर से वे उदासीनता प्रकट करते।

सुग्रीव का चरित्र तो और भी औसत दरजे का है। न उनकी भलाई ही किसी भारी हद तक पहुँची हुई दिखाई देती है, न बुराई ही। राम के साथ उन्होंने मैत्री की और राम का कुछ कार्य्य-साधन करने के पहले ही बड़े भाई का राज्य पाया। पर जैसा कि साधारणतः मनुष्य का स्वभाव (बंदर का स्वभाव कहने से और कुछ कहते ही नहीं बनेगा) होता है, वे सुख-विलास में फँसकर राम का कार्य्य भूल गए। जब हनुमान् ने चेताया, तब वे घबराए और अपने कर्त्तव्य में दत्तचित्त हुए।

अब तक जिस चित्रण का वर्णन हुआ है, वह एक व्यक्ति का चित्रण है। इसी प्रकार किसी समुदाय-विशेष की प्रकृति का भी चित्रण होता है; जैसे स्त्रियों की प्रकृति का, बालकों की प्रकृति का। स्त्रियों की प्रकृति की जैसी तद्रूप छाया हम 'मानस' के अयोध्या-

* वाल्मीकि का वर्णन भी इसी प्रकार है।

कांड में देखते हैं, वैसी छाया के प्रदर्शन का प्रयत्न तक हम और किसी हिंदी कवि में नहीं पाते। नीची श्रेणी की स्त्रियों के सामने बहुत कम प्रकार के विषय आते हैं। पर मनुष्य का मन ऐसी वस्तु है कि अपनी प्रवृत्ति के अनुसार लगे रहने के लिये उसे कुछ न कुछ चाहिए। वह खाली नहीं रह सकता। इससे वे अपने राग-द्वेष के अनेक आधार यों ही बिना कारण ढूँढ़कर खड़ा करती रहती हैं। यदि वे चार आदमियों के बीच रख दी जायँ, तो हम बहुत थोड़े दिनों में देखेंगे कि कुछ तो उनके अनुराग के पात्र हो गए हैं और कुछ द्वेष के। मूर्ख स्त्रियों की यह विशेषता ध्यान देने योग्य है। अपने लिये राग और द्वेष का पात्र चुन लेने पर वे अपने वाग्विलास और भाव-परिपाक के लिये सहयोगी ढूँढ़ती हैं। मंथरा का इसी अवस्था में हम पहले-पहल दर्शन पाते हैं। न जाने उसे क्यों कौशल्या अच्छी नहीं लगतीं, कैकेयी अच्छी लगती है*। राम के अभिषेक की तैयारी देखकर वह कुढ़ जाती है और मुँह लटकाए कैकेयी के पास आ खड़ी होती है। कैकेयी को उसके अनुराग का पता चाहे रहा हो, पर अभी तक द्वेष का पता बिलकुल नहीं है। वह मुँह लटकाने का कारण पूछती है। तब—

> उतरु देइ नहिं, लेइ उसासू। नारिचरित करि ढारइ आँसू॥
> हँसि कह रानि गाल बड़ तोरे। दीन्ह लषन सिख अस मन मोरे॥
> तबहुँ न बोल चेरि बड़ि पापिनि। छांड़इ स्वास कारि जनु साँपिनि॥

उसकी इस मुद्रा से प्रकट होता है कि उसने अपने द्वेष का आभास इसके पहले कैकेयी को नहीं दिया था; यदि दिया भी रहा

---

* वाल्मीकिजी ने उसे "कैकेयी के मातृकुल की दासी" कहकर कारण का पूरा संकेत कर दिया है। इस प्रकार की दासी का व्यवहार घर के और लोगों के साथ कैसा रहता है, यह हिंदू गृहस्थ मात्र जानते हैं। पर गोस्वामीजी ने कारण का संकेत न देकर उसकी प्रवृत्ति को मूर्ख स्त्रियों की सामान्य प्रवृत्ति—नारिचरित—के अंतर्गत रखा है।

होगा, तो बहुत कम। जल्दी उत्तर न देने से यह सूचित होता है कि जो बात वह कहना चाहती है, वह कैकेयी के लिये बिलकुल नई है, अत: उसे सहसा नहीं कह सकती। किस ढंग से कहे, यह सोचने में उसे कुछ काल लग जाता है। इसके अतिरिक्त किसी के सामने अब तक न प्रकट किए गए दु:ख के वेग का भार भी दबाए हुए है। इतने में "गाल बड़ तोरे" इस वाक्य से जी की बात धीरे धीरे बाहर करने का एक रास्ता निकलता है। वह अपनी वही मुद्रा कायम रखती हुई कहती है—

कत सिख देइ हमहिं कोउ माई। गाल करब केहि कर बलु पाई?

"किसका बल पाकर गाल करूँगी?" इसका मतलब यही है कि मुझे एक तुम्हारा ही बल ठहरा – मैं तुम्हें चाहती हूँ और तुम मुझे चाहती हो—सो मैं देखती हूँ कि तुम्हारी यहाँ कोई गिनती ही नहीं है। क्रोध, द्वेष आदि के उद्गार के इस प्रकार क्रम क्रम से निकालने की पटुता स्त्रियों में स्वाभाविक होती है, क्योंकि पुरुषों के दबाव में रहने के कारण तथा अधिक लज्जा, संकोच के कारण ऐसे भावों के वेग को एक-बारगी निकालने का अवसर उन्हें कम मिलता है।

रानी पूछती है कि "सब लोग कुशल से तो हैं?" इसका उत्तर फिर उसी प्रणाली का अनुसरण करती हुई वह देती है—

रामहिं छाँड़ि कुसल केहि आजू? जिन्हहिं जनेसु देइ जुवराजू॥
भएउ कौसिलहि बिधि अति दाहिन। देखत गरब रहत उर नाहिंन॥

किसी को क्रमश: अपनी भाव-पद्धति पर लाना, थोड़ा-बहुत जिसे कुछ भी बात करना आता है, उसे भी आता है। जिस प्रकार अपनी विचार-पद्धति पर लाने के लिये क्रमश: प्रमाण पर प्रमाण देते जाने की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार क्रमश: किसी के हृदय को किसी भाव-पद्धति पर लाने के लिये उसके अनुकूल मनोविकार उत्पन्न करते चलने की आवश्यकता होती है। राम के प्रति

लोगों को बुरा लगता है। विश्वास न करनेवाले के सामने कुछ तटस्थ होकर अपने भाग्य को दोष देने लगना विश्वास उत्पन्न कराने का एक ऐसा ढंग है जिसे कुछ लोग, विशेषत: स्त्रियाँ, स्वभावत: काम में लाती हैं। इससे श्रोता का ध्यान उसके खेद की सचाई पर चला जाता है और फिर क्रमश: उसकी बातों की ओर आकर्षित होने लगता है। इस खेद की व्यंजना प्राय: 'उदासीनता' के द्वारा की जाती है; जैसे "हमें क्या करना है ? हमने आपके भले के लिये कहा था। कुछ स्वभाव ही ऐसा पड़ गया है कि किसी का अहित देखा नहीं जाता।" मंथरा के कहे हुए खेद-व्यंजक उदासीनता के ये शब्द सुनते ही झगड़ा लगानेवाली स्त्री का रूप सामने खड़ा हो जाता है—

कोउ नृप होइ हमहि का हानी; चेरि छाड़ि अब होब कि रानी ?
जारइ जोग सुभाउ हमारा। अनभल देखि न जाइ तुम्हारा॥

अब तो कैकेयी को विश्वास हो रहा है, यह देखते ही वह राम के अभिषेक से होनेवाली कैकेयी की दुर्दशा का चित्र खींचती है और यह भी कहती जाती है कि राम का तिलक होना मुझे अच्छा लगता है, राम से मुझे कोई द्वेष नहीं है; पर आगे तुम्हारी क्या दशा होगी, यही सोचकर मुझे व्याकुलता होती है—

रामहिं तिलक कालि जो भयऊ। तुम कहँ बिपति-बीज बिधि बयऊ॥
रेख खँचाइ कहहुँ बल भाखी। भामिनि भइहु दूध कै माखी॥
जौ सुत सहित करहु सेवकाई। तौ घर रहहु, न आन उपाई॥

इस भावी दृश्य की कल्पना से भला कौन स्त्री क्षुब्ध न होगी ? किसी बात पर विश्वास करने या न करने की भी मनुष्य की रुचि नहीं होती है। जिस बात पर विश्वास करने की मनुष्य को रुचि नहीं होती, उसके प्रमाण आदि वह सुनता ही नहीं; सुनता भी है तो ग्रहण नहीं करता। मंथरा ने पहले अपनी बात पर विश्वास करने

की रुचि भिन्न भिन्न मनोविकारों के उद्दीपन द्वारा कैकेयी में उत्पन्न की। जब यह रुचि उत्पन्न हो गई, तब स्वभावतः कैकेयी का अंतः-करण भी उसके समर्थन में तत्पर हुआ—

सुनु मंथरा बात फुर तोरी। दहिनि आँख नित फरकइ मोरी॥
दिन प्रति देखेउँ राति कुसपने। कहौं न तोहि मोह-बस अपने॥
काह करौं सखि? सूध सुभाऊ। दाहिन-बाम न जानौं काऊ॥

इस प्रकार जो भावी दृश्य मन में जम जाता है, उससे कैकेयी के हृदय में घोर नैराश्य उत्पन्न होता है। वह कहती है—

नैहर जनमु भरब बरु जाई। जियत न करब सवति-सेवकाई॥
अरि-बस दैव जिआवत जाही। मरनु नीक तेहि जीव न चाही॥

इस दशा में मंथरा उसे सँभालती है और कार्य में तत्पर करने के लिये आशा बँधाती हुई उत्साह उत्पन्न करती है—

जेइ राउर अति अनभल ताका। सोइ पाइहि यह फलु परिपाका॥
पूछेउँ गुनिन्ह, रेख तिन्ह खाँची। भरत भुआल होहिं यह साँची॥

इस प्रसंग के चित्रण को देख यह समझा जा सकता है कि गोस्वामीजी ने मानव-अंतःकरण के कैसे कैसे रहस्यों का उद्घाटन किया है। ऐसी गूढ़ उद्भावना बिना सूक्ष्म अंतर्दृष्टि के नहीं हो सकती।

बालकों की प्रवृत्ति का चित्रण हम परशुराम और लक्ष्मण के संवाद में पाते हैं। अकारण चिढ़नेवालों को चिढ़ाना बालकों के स्वभाव के अंतर्गत होता है। चिड़चिड़े लोगों की दवा करने का भार मानों समाज ने बालकों ही को दे रखा है। राम के विनय करने पर भी परशुराम को ज्यों ही लक्ष्मण चिढ़ते देखते हैं, त्यों ही उनकी बाल-प्रवृत्ति जाग्रत हो जाती है। लक्ष्मण का स्वभाव उग्र था, इससे इस कौतुक के बीच बीच में क्रोध का भी आभास हमें मिलता है। परशुराम की आकृति जब अत्यंत भीषण और वचन

अत्यंत कटु हो जाते हैं, तब लक्ष्मण के मुँह से व्यंग्य वचन न निकल-कर अमर्ष के उग्र शब्द निकलने लगते हैं। परशुराम जब कुठार दिखाने लगे, तब लक्ष्मण को भी क्रोध आ गया और वे बोले—

भृगुबर ! परसु देखावहु मोही। बिप्र बिचारि बचउँ नृप-द्रोही॥
मिले न कबहुँ सुभट रन गाढ़े। द्विज देवता घरहिं के बाढ़े॥

गोस्वामीजी ने लक्ष्मण की इस बाल-वृत्ति को लोक-व्यवहार से बिल्कुल अलग नहीं रखा है, इसे परशुराम की क्रोधशीलता की प्रतियोगिता में रखा है। यह भी अपना लोकोपयोगी स्वरूप दिखा रही है। यदि परशुराम मुनियों की तरह आते, जो शांत और क्षमाशील होते हैं, तो लक्ष्मण को अवसर न मिलता। रामचंद्रजी कहते हैं—

जौ तुम अवतेहु मुनि की नाईं। पद-रज सिर सिसु धरत गोसाईं॥
छमहु चूक अनजानत केरी। चहिय बिप्र उर कृपा घनेरी॥

बाह्य-दृश्य-चित्रण

यहाँ तक तो गोस्वामीजी की अंतर्दृष्टि की सूक्ष्मता का कुछ वर्णन हुआ। अब पदार्थों के बाह्य स्वरूप के निरीक्षण और प्रत्यक्षी-करण पर भी थोड़ा विचार कर लेना चाहिए; क्योंकि ये दोनों बातें भी कवि के लिये बहुत ही आवश्यक है। प्रबंधगत पात्र के चित्रण में जिस प्रकार उसके शील-स्वरूप को, उसके अंतस् की प्रवृत्तियों को, प्रत्यक्ष करना पड़ता है, उसी प्रकार उसके अंग-सौष्ठव आदि को भी प्रत्यक्ष करना पड़ता है। यहीं तक नहीं, प्रकृति के नाना रूपों के साथ मनुष्य के हृदय का सामंजस्य दिखाने और प्रतिष्ठित करने के लिये उसे वन, पर्वत, नदी, निर्झर आदि अनेक पदार्थों को ऐसी स्पष्टता के साथ अंकित करना पड़ता है कि श्रोता या पाठक का अंतःकरण उनका पूरा बिंब ग्रहण कर सके। इस संबंध में पहले ही यह कह देना आवश्यक है कि हिंदी कवियों में प्राचीन संस्कृत कवियों का सा वह सूक्ष्म निरीक्षण नहीं है जिससे प्राकृतिक दृश्यों का पूरा चित्र सामने खड़ा होता है। यदि किसी में यह बात थोड़ी-बहुत है, तो गोस्वामी तुलसीदासजी में ही।

दृश्य-चित्रण में केवल अर्थ-ग्रहण कराना नहीं होता, बिंब-ग्रहण कराना भी होता है। यह बिंब-ग्रहण किसी वस्तु का नाम ले लेने मात्र से नहीं हो सकता। आसपास की और वस्तुओं के बीच उसकी परिस्थिति तथा नाना अंगों की संश्लिष्ट योजना के साथ किसी वस्तु का जो वर्णन होगा, वही चित्रण कहा जायगा। "कमल फूले हैं", "भौंरे गूँज रहे हैं", "कोयल बोल रही है" यदि कोई इतना ही कह दे तो यह चित्रण नहीं कहा जायगा। 'लहराते हुए नीले जल के ऊपर कहीं गोल हरे पत्तों के समूह के बीच कमलनाल

निकले हैं जिनके झुके हुए छोरों पर रक्ताभ कमल-दल छितराकर फैले हुए हैं' इस प्रकार का कथन चित्रण का प्रयत्न कहा जायगा। यह चित्रण वस्तु और व्यापार के सूक्ष्म निरीक्षण पर अवलंबित होता है। आदिकवि वाल्मीकि तथा कालिदास आदि प्राचीन कवियों में ऐसा निरीक्षण करानेवाली समग्र बाह्य सृष्टि से संयुक्त सहृदयता थी जो पिछले कवियों में बराबर कम होती गई और हिंदी के कवियों के तो हिस्से ही में न आई। उन्होंने तो कुछ इनी गिनी वस्तुओं का नाम ले लिया, बस पुरानी रस्म अदा हो गई। फिर भी कहना पड़ता है कि यदि प्राचीन कवियों की थोड़ी बहुत छाया कहीं दिखाई पड़ती है, तो तुलसीदासजी में।

चित्रकूट, पंचवटी आदि स्थानों में गोस्वामीजी राम-लक्ष्मण को ले गए हैं; पर उनके राम-लक्ष्मण में प्रकृति के नाना रूपों और व्यापारों के प्रति वह हर्षोल्लास नहीं है जो वाल्मीकि के राम-लक्ष्मण में है। वाल्मीकि के लक्ष्मण पंचवटी पर जाकर हेमंत ऋतु की शोभा का अत्यंत विस्तीर्ण और सूक्ष्म वर्णन करते हैं, उसके एक एक ब्योरे पर ध्यान ले जाते हुए अपनी रागात्मिका वृत्ति को लीन करते हैं; पर गोस्वामीजी के लक्ष्मण बैठकर राम से 'ज्ञान, विराग, माया और भक्ति' की बात पूछते हैं। वाल्मीकि के लक्ष्मण तो जहाँ तक दृष्टि जाती है, वहाँ तक का एक एक ब्योरा इस प्रकार आनंद से सामने ला रहे हैं—

अवश्यायविपातेन किंचित्प्रक्लिन्नशाद्वला।
वनानां शोभते भूमिर्निविष्टतरुणातपा॥
स्पृशंस्तु विपुलं शीतमुदकं द्विरदः सुखम्।
अत्यंततृषितो वन्यः प्रतिसंहरते करम्॥
बाष्पसंछन्नसलिला रुतविज्ञेयसारसा।
हिमार्द्रवालुकैस्तीरैः सरिता भाति साम्प्रतम्॥

जराजर्जरितैः पद्मैः शीर्णकेसरकर्णिकैः।
नालशेषैर्हिमध्वस्तैर्न भाति कमलाकरः॥

और तुलसीदासजी के लक्ष्मण राम से यह सुन रहे हैं कि—

गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई॥

इतना होने पर भी गोस्वामीजी सच्चे सहृदय भावुक भक्त थे; इस जगत् के 'सियाराममय' स्वरूपों से वे अपने हृदय को अलग कैसे रख सकते थे? जब कि उनके सारे स्नेह-संबंध राम के नाते से थे, तब चित्रकूट आदि रम्य स्थलों के प्रति उनके हृदय में गूढ़ अनुराग कैसे न होता, उनके रूप की एक एक छटा की ओर उनका मन कैसे न आकर्षित होता? जिस भूमि को देखने के लिये उत्कंठित होकर वे अपने चित्त से कहते थे—

अब चित चेत चित्रकूटहि चलु।
भूमि बिलोकु राम-पद-अंकित बन बिलोकु रघुबर-बिहार-थलु॥

उसके रूप की ओर वे कैसे ध्यान न देते? चित्रकूट उन्हें कैसे अच्छा न लगता? गीतावली में उन्होंने चित्रकूट का बहुत विस्तृत वर्णन किया है। यह वर्णन शुष्क प्रथा-पालन नहीं है, उस भूमि की एक एक वस्तु के प्रति उमड़ते हुए अनुराग का उद्गार है। उसमें कहीं कहीं प्रचलित संस्कृत कवियों का सूक्ष्म निरीक्षण और संश्लिष्ट योजना पाई जाती है; जैसे—

सोहत स्याम जलद मृदु घोरत धातु-रँगमगे सृंगनि।
मनहुँ आदि अंभोज बिराजत सेवित सुर-मुनि-भृंगनि॥
सिखर-परस घन घटहिं मिलति बग-पाँति सो छबि कबि बरनी।
आदि बराह बिहरि बारिधि मनो उठ्यो है दसन धरि धरनी॥
जल-जुत बिमल सिलनि झलकत नभ बन-प्रतिबिंब तरंग।
मानहुँ जग रचना बिचित्र बिलसति बिराट अँग अंग॥

मंदाकिनिहि मिलत झरना झरि झरि भरि भरि जल आछे।
तुलसी सकल सुकृत सुख लागे मानौ राम-भगति के पाछे॥

इस दृश्य की संश्लिष्ट योजना पर ध्यान दीजिए। इसमें योंही नहीं कह दिया गया है कि 'बादल छाए हैं' और 'बगलों की पाँति उड़ रही है'। मंद मंद गरजते हुए काले बादल गेरू से रँगे (लाल) शृंगों से लगे दिखाई देते हैं और उन शिखरस्पर्शी घटाओं से मिली श्वेत बक-पंक्ति दिखाई दे रही है। केवल 'जलद' न कह-कर उसमें वर्ण और ध्वनि का भी विन्यास किया गया है। वर्ण के उल्लेख से "जलद" पद में बिंब-ग्रहण कराने की जो सामर्थ्य आई थी, वह रक्ताभ शृंग के योग में और भी बढ़ गई और बगलों की श्वेत पंक्ति ने मिलकर तो चित्र को पूरा ही कर दिया। यदि ये तीनों वस्तुएँ—मेघमाला, शृंग और बक-पंक्ति—अलग अलग पड़ी होतीं, उनकी संश्लिष्ट योजना न की गई होती, तो कोई चित्र ही कल्पना में उपस्थित न होता। तीनों का अलग अलग अर्थ-ग्रहण मात्र हो जाता, बिंब-ग्रहण न होता। इसी प्रकार काली शिलाओं पर फैले हुए जल के भीतर आकाश और वनस्थली का प्रतिबिंब देखना भी सूक्ष्म निरीक्षण सूचित करता है। अलंकारों पर 'वाह वाह' न कहने पर शायद अलंकार-प्रेमी लोग नाराज हो रहे हों; उनसे अत्यंत नम्र निवेदन है कि यहाँ विषय दूसरा है।

अब यहाँ प्रश्न यह होता है कि गोस्वामीजी ने सारा वर्णन इसी पद्धति से क्यों नहीं किया। गोस्वामीजी हिंदी-कवियों की परंपरा से लाचार थे। कहीं कहीं इस प्रकार की संश्लिष्ट योजना और सूक्ष्म निरीक्षण का जो विधान दिखाई पड़ता है, उसे ऐसा समझिए कि वह उनकी भावमग्नता के कारण आप से आप हो गया है। तुलसीदासजी के पहले तीन कैंड़े के कवि हिंदी में हुए थे—एक तो वीरगाथा गानेवाले पुराने चारण; दूसरे प्रेम की कहानी कहनेवाले

ज्ञमान कवि; और तीसरे केवल वंशीवट और यमुना-तट तक रखनेवाले पद गानेवाले कृष्णभक्त कवि। इनमें से किसी की विश्वविस्तृत नहीं थी। भक्ति-मार्ग के संबंध से तुलसीदासजी सान्निध्य सूरदास आदि तीसरे वर्ग के कवियों से ही अधिक

पर उक्त वर्ग में सबसे श्रेष्ठ कवि जो सूरदासजी हैं, उन्होंने थलों और ऋतुओं आदि का जो कुछ वर्णन किया है, वह एक भाव के उद्दीपन की दृष्टि से। वर्णन की शैली भी उनकी वही ो खेवे के कवियों की है जिसमें गिनाई हुई वस्तुओं का उल्लेख अलंकारों से लदा हुआ होता है। ऐसी अवस्था में भी गोस्वामीजी लेखनी से जो कहीं कहीं प्राचीन कवियों के अनुरूप संश्लिष्ट ण हुआ है, वह उनके हृदय का स्वाभाविक विस्तार प्रकट करता ार उन्हें हिंदी के कवियों में सबसे ऊँचे ले जाता है।

पर गोस्वामीजी के अधिकांश वर्णन पिछले कवियों के ढंग पर सौंदर्य्य-प्रधान ही हैं जिनमें वस्तुओं का परिगणन मात्र से—

झरना झरहिं सुधा-सम बारी। त्रिविध-ताप-हर त्रिविध बयारी॥
बेलि-तृन अगनित जाती। फल-प्रसून-पल्लव बहु भाँती॥
सिला सुखद तरु-छाहीं। जाइ बरनि बन-छबि केहि पाहीं॥
सरनि सरोरुह जल-बिहग कूजत, गुजत भृंग।
बैर-बिगत बिहरत बिपिन मृग बिहंग बहुरंग॥

२) बिटप बेलि नव किसलय, कुसुमित सघन सुजाति।
कंद-मूल जल-थल-रुह अगनित अनबन भाँति॥
मंजुल मंजु, बकुल-कुल, सुर-तरु, ताल-तमाल।
कदलि कदंब सुचंपक पाटल, पनस रसाल।
सरित-सरन सरसीरुह फूले नाना रंग।
ंजत मंजु मधुपगन कूजत बिबिध बिहंग॥

पिछले कवियों की शैली पर वर्णन करने में भी वे सबसे बढ़े-चढ़े हैं। यह चित्रकूट-वर्णन देखिए—

फटिक-सिला मृदु बिसाल, संकुल सुरतरु तमाल,
ललित लता-जाल हरति छबि बितान की।
मंदाकिनी-तटिनि-तीर, मंजुल-मृग-बिहग-भीर,
धीर मुनि गिरा गभीर सामगान की।।
मधुकर पिक बरहि मुखर, सुंदर गिरि निरझर झर,
जल-कन, छन छाँह, छन प्रभा न भान की।
सब ऋतु ऋतुपति-प्रभाउ, संतत बहैं त्रिबिध बाउ,
जनु बिहार-बाटिका नृप पंच-बान की।।

इस वर्णन से इस बात का इशारा मिलता है कि गोस्वामीजी ऋतु-वर्णन करने में रीति-ग्रंथों में गिनाई वस्तुओं तक ही नहीं रहते हैं—वे अपनी आँखों से भी पूरा काम लेते हैं। "ऋतुपति" की शोभा के भीतर केवल रीति पर चलनेवाले मोर नहीं लाया करते; पर तुलसीदासजी ने उनकी बोली नहीं बंद की। केवल पद्धति का अनुसरण करनेवाले कवि वर्षाकाल में कोकिल को मौन कर देते हैं। पर तुलसीदास अपने कानों की कहाँ तक उपेक्षा करते? वे गीतावली के उत्तर-कांड में, हिँडोले के प्रसंग में, वर्षा का वर्णन करते हुए कहते हैं—

दादुर मुदित, भरे सरित-सर, महि उमग जनु अनुराग।
पिक, मोर, मधुप, चकोर चातक सोर उपवन बाग।।

उपमा, उत्प्रेक्षा, दृष्टांत आदि के साथ गुथे वर्णन भी बहुत से हैं, पर उनमें वस्तुओं और व्यापारों का उल्लेख बहुत पूर्ण है। चित्रकूट की वस्तुओं और व्यापारों को लेकर उन्होंने होली का उत्सव खड़ा किया है—

आजु बन्यो है बिपिन देखो रामधीर। मानो खेलत फागु मुद मदनबीर।।

बट बकुल कदंब पनस रसाल। कुसुमित तरु-निकर, कुरव-तमाल॥
मानो बिबिध बेष धरे छैल-जूथ। बिच बीच लता-ललना-बरूथ॥
पनवानक निर्झर, अलि उपंग। बोलत पारावत मानो डफ मृदंग॥
गायक सुक कोकिल, झिल्लि ताल। नाचत बहु भाँति बरहि मराल॥

पर उनकी यह उत्प्रेक्षा भी उल्लास-सूचक है। इसी प्रकार भागवत के दृष्टांत—उदाहरण—लेकर उन्होंने किष्किंधाकांड में वर्षा और शरत् का वर्णन किया है जिससे प्रस्तुत वस्तु और व्यापार दृष्टांतों के सामने दबे से हैं। श्रोता या पाठक का ध्यान वर्ण्य वस्तुओं की ओर जमने नहीं पाता। फिर भी जहाँ जहाँ स्थल-वर्णन का अवसर आया है, वहाँ वहाँ उन्होंने वस्तुओं और व्यापारों का प्रचुर उल्लेख करते हुए विस्तृत वर्णन किया है। केशवदास के समान नहीं किया है कि पंचवटी का प्रसंग आया तो बस "सब जाति फटी दुख की दुबरी" करके और अपना यह श्लेष-चमत्कार दिखाकर चलते बने—

सोभत दंडक की रुचि बनी। भाँतिन भाँतिन सुंदर घनी।
सेव बड़े नृप की जनु लसै। श्रीफल भूरि भाव जहँ लसै॥
बेर भयानक सी अति लगै। अर्क-समूह जहाँ जगमगै॥

अब कहिए, इसमें "श्रीफल", "बेर" और "अर्क" पदों के श्लेष के सिवा और क्या है? चित्रण क्या, यह तो वर्णन भी नहीं है। इसमें "हृदय" का तो कहीं पता ही नहीं है। क्या "बेर" को देखकर भयानक प्रलयकाल की ओर ध्यान जाता है और आक को देख प्रलयकाल के अनेक सूर्य्यों की ओर? इससे तो साफ झलकता है कि पंचवटी के वन-दृश्य से केशव के हृदय का कुछ भी सामंजस्य नहीं है। उस दृश्य से उनके हृदय में किसी प्रकार के भाव का उदय नहीं हुआ।

दूसरी बात ध्यान देने की यह है कि वाल्मीकि, कालिदास आदि प्राचीन कवियों ने वृक्षों आदि के उल्लेख में देश का पूरा ध्यान रखा

है; जैसे, हिमालय के वर्णन में भूर्ज, देवदारु आदि और दक्षिण के वर्णन में एला, लवंग, ताल, नारिकेल, पुंगीफल आदि का उल्लेख है। गोस्वामीजी ने भी देश का ध्यान रखा है। चित्रकूट के वर्णन में कहीं एला, लवंग, पुंगीफल का नाम वे नहीं लाए हैं। पर केशवदासजी मगध के पुराने जंगल के वर्णन में, वृक्षों के जो जो नाम याद आए हैं, उन्हें अनुप्रास की बहार दिखाते हुए जोड़ते चले गए हैं—

तरु तालीस तमाल ताल हिंताल मनोहर।
मंजुल बंजुल तिलक लकुच कुल नारिकेल वर॥
एला ललित लवंग संग पुंगीफल सोहै।
सारी सुक कुल कलित चित्त कोकिल अलि मोहै॥

केशवदासजी ने इस बात का कुछ भी विचार न किया कि एला, लवंग और पुंगीफल अयोध्या और मिथिला के बीच के जंगलों में होते भी हैं या नहीं।

भिन्न भिन्न व्यापारों में तत्पर मनुष्य की मुद्रा का चित्रण भी रूप-प्रत्यक्षीकरण में बहुत प्रयोजनीय है। पर यह हम गोस्वामीजी को छोड़ और किसी में पाते ही नहीं। और कवियों ने केवल अनुभव के रूप में भ्रू-भंग आदि का वर्णन किया है; पर लक्ष्य साधने, किसी का मार्ग देखने आदि व्यापारों में जो स्वाभाविक मुद्रा मनुष्य की होती है, उसके चित्रण की ओर उनका ध्यान नहीं गया है। गोस्वामीजी ने ऐसा चित्रण किया है। देखिए, आखेट के समय मृग को लक्ष्य करके बाण खींचते हुए रामचंद्र का कैसा चित्र उन्होंने सामने खड़ा किया है—

सुभग सरासन-सायक जोरे।
खेलत राम फिरत मृगया बन बसती सो मृदु मूरति मन मोरे।
जटा मुकुट सिर सारस-नयननि गौंहैं तकत सुभौंह सकोरे॥

मारीच के पीछे लक्ष्य साधते हुए राम की छवि देखिए—

जटा-मुकुट, कर सर-धनु, संग मरीच।
चितवनि बसति कनखियनु अँखियन बीच॥

एक और चित्र देखिए। शबरी की झोपड़ी की ओर राम आनेवाले हैं। वह उनके लिये मीठे मीठे फल इकट्ठे करके कभी भीतर जाती है, कभी बाहर आकर भौं पर हाथ रखे हुए मार्ग की ओर ताकती है—

अनुकूल अंबक अंब ज्यों निज डिंभ हित सब आनिकै।
सुंदर सनेह-सुधा सहस जनु सरस राखे सानिकै॥
छन भवन छन बाहर बिलोकति पंथ भू पर पानि कै।

निशाना साधने में भौं सिकोड़ना और रास्ता देखने में माथे पर हाथ रखना कैसी स्वाभाविक मुद्राएँ हैं।

दृश्यों को सामने रखने में गोस्वामीजी ने अत्यंत परिमार्जित रुचि का परिचय दिया है। वे ऐसे दृश्य सामने नहीं लाए हैं जो भद्दे या कुरुचि-पूर्ण कहे जा सकें। उदाहरण के लिये भोजन का दृश्य लीजिए। 'मानस' में दो प्रसंगों में इसके अवसर आए हैं—राम की बाल-लीला के प्रसंग में और विवाह के प्रसंग में। दोनों अवसरों पर उन्होंने भोजन के दृश्य का विस्तार नहीं किया है। दशरथ भोजन कर रहे हैं; इतने में—

धूसर धूरि भरे तनु आए। भूपति बिहँसि गोद बैठाए॥
भोजन करत चपल चित इत-उत अवसरु पाइ।
भाजि चले किलकत मुख दधि-ओदन लपटाइ॥

भोजन का यह उल्लेख बाल-क्रीड़ा और बाल-चपलता का चित्रण करने के लिये है। पकवानों के नाम गिनाते हुए भोजन के वर्णन का विस्तार उन्होंने नहीं किया है। इसी प्रकार विवाह के अवसर पर भी भोजन का वर्णन नहीं है। किसी भद्दी रुचिवाले को यह बात खटकी और उसने उनके नाम पर रामकलेवा बना डाला।

अब सूर और जायसी को देखिए। वे लड्डू, पेड़ा, जलेबी, पूरी, कचौरी, बड़ा, पकौड़ी, मिठाइयों और पकवानों के जितने नाम याद आए हैं—या लोगों ने बताए हैं—सब रखते चले गए हैं। जायसी तो कई पृष्ठों तक इसी तरह गिनाते गए हैं—

लुचुई पूरि सोहारी पूरी। इक तौ ताती औ सुठि कोंवरी ॥
भूँजि समोसा घी महँ काढ़े। लौंग मिरिच तेहि भीतर ठाढ़े ॥

इसी प्रकार चावलों और तरकारियों के पचीसों नाम देख लीजिए। सूरदासजी ने भी यही किया है। 'नंद बबा' कृष्ण को लेकर खाने बैठे हैं। उनके सामने क्या क्या रखा है, देखिए—

लुचुई, लपसी, सद्य जलेबी सोइ जेंवहु जो लगै पियारी।
घेवर, मालपुवा, मोतिलाडू सुघर सजूरी सरस सँवारी ॥
दूध-बरा, उत्तम दधि, बाटी, दाल मसूरी की रुचि न्यारी।
आछो दूध औटि धौरी को मैं ल्याई रोहिणि महतारी ॥

इन नामों को सुनकर अधिक से अधिक यही हो सकता है कि श्रोताओं के मुँह में पानी आ जाय। भोजन का ऐसा दृश्य सामने रखना साहित्य के मर्मज्ञ आचार्यों ने भी काव्य-शिष्टता के विरुद्ध समझा था; इसी से उन्होंने नाटक में इसका निषेध किया था—

दूराह्वानं, वधो, युद्धं, राज्यदेशादिविप्लवः।
विवाहो भोजनं शापोत्सर्गौ मृत्यू रतं तथा ॥

कुछ हिंदी कवियों ने बहुत सी वस्तुओं की लंबी सूची देने को ही वर्णन-पटुता समझ लिया था। इसके द्वारा मनुष्य के भिन्न भिन्न व्यवसाय-क्षेत्रों की अपनी जानकारी भी वे प्रकट करना चाहते थे। घोड़ों का प्रसंग आया तो बस 'ताजी, अरबी, अबलक, मुश्की" गिना चले। हथियारों का प्रसंग आया तो सैकड़ों की फिहरिस्त मौजूद है। महाराज रघुराजसिंह ने तो यह समझिए कि अपने समय के राजसी ठाठ और जलूस के सामान गिनाने के लिये ही

"राम-स्वयंवर" लिखा। इस प्रणाली का सबसे अधिक अनुसरण सूदन ने किया है। उनके 'सुजान-चरित्र' को तो हथियारों, घोड़ों, कपड़ों, सामानों की एक पुस्तकाकार नामावली समझिए।

गोस्वामीजी को यह हवा बिल्कुल न लगी। इस अनर्गल विधान से दूर रहकर उन्होंने अपने गौरव और गांभीर्य्य की पूर्ण रक्षा की।

वस्तु-प्रत्यक्षीकरण के संबंध में यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि वह काव्य का साध्य नहीं है। यदि वह साध्य या चरम लक्ष्य होता तो किसी कुरसी या गाड़ी का सूक्ष्म वर्णन भी काव्य कहला सकता। पर काव्य में तो उन्हीं वस्तुओं का वर्णन प्रयोजनीय होता है जो विभाग के अंतर्गत होती हैं अथवा उनसे संबद्ध होती हैं। अतः "काव्य एक अनुकरण कला है" यूनान के इस पुराने वाक्य को बहुत दूर तक ठीक न समझना चाहिए। कवि और चित्रकार का साध्य एक ही नहीं है। जो चित्रकार का साध्य है, वह कवि का साधन है। पर इसमें संदेह नहीं कि यह साधन सबसे आवश्यक और प्रधान है। इसके बिना काव्य का स्वरूप खड़ा ही नहीं हो सकता।

अलंकार-विधान

भावों का जो स्वाभाविक उद्रेक और विभावों का जो स्पष्ट प्रत्यक्षीकरण गोस्वामीजी में पाया जाता है, उसका दिग्दर्शन तो हो चुका। अब जरा उनके अलंकारों की बानगी भी देख लेनी चाहिए। भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप, गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने में कभी कभी सहायक होनेवाली युक्ति ही अलंकार है। अतः अलंकारों की परीक्षा हम इसी दृष्टि से करेंगे कि वे कहाँ तक उक्त प्रकार से सहायक हैं। यदि किसी वर्णन में उनसे इस प्रकार की कोई सहायता नहीं पहुँचती है, तो वे काव्यालंकार नहीं, भार मात्र हैं। यह ठीक है कि वाक्य की कुछ विलक्षणता—जैसे श्लेष और यमक—द्वारा श्रोता या पाठक का ध्यान आकर्षित करने के लिये भी अलंकार की थोड़ी बहुत योजना होती है, पर उसे बहुत ही गौण समझना चाहिए। काव्य की प्रक्रिया के भीतर ऊपर कही बातों में से किसी एक में भी जिस अलंकार से सहायता पहुँचती है, उसे हम अच्छा कहेंगे और जिससे कई एक में एक साथ सहायता पहुँचती है, उसे बहुत उत्तम कहेंगे।

अलंकार के स्वरूप की ओर ध्यान देते ही इस बात का पता चल जाता है कि वह कथन की एक युक्ति या वर्णनशैली मात्र है। यह शैली सर्वत्र काव्यालंकार नहीं कहला सकती। उपमा को ही लीजिए जिसका आधार होता है सादृश्य। यदि कहीं सादृश्य-योजना का उद्देश बोध कराना मात्र है तो वह काव्यालंकार नहीं। "नीलगाय गाय के सदृश होती है" इसे कोई अलंकार नहीं कहेगा। इसी प्रकार "एकरूप तुम भ्राता दोऊ। तेहि भ्रम तें नहिं मारेउँ सोऊ॥" में भ्रम अलंकार नहीं है। केवल "वस्तुत्व" या "प्रमेयत्व"

जिसमें हो, वह अलंकार नहीं* । अलंकार में रमणीयता होनी चाहिए । चमत्कार न कहकर रमणीयता हम इसलिये कहते हैं कि चमत्कार के अंतर्गत केवल भाव, रूप, गुण या क्रिया का उत्कर्ष ही नहीं, शब्द-कौतुक और अलंकार-सामग्री की विलक्षणता भी ली जाती है । जैसे, बादल के स्तूपाकार टुकड़े के ऊपर निकले हुए चंद्रमा को देख यदि कोई कहे कि "मानो ऊँट की पीठ पर घंटा रखा हुआ है" तो कुछ लोग अलंकार-सामग्री की इस विलक्षणता पर—कवि की इस दूर की सूझ पर—ही वाह वाह करने लगेंगे । पर इस उत्प्रेक्षा से ऊपर लिखे प्रयोजनों में से एक भी सिद्ध नहीं होता । बादल के ऊपर निकलते हुए चंद्रमा को देख हृदय में स्वभावतः सौंदर्य्य की भावना उठती है । पर ऊँट पर रखा हुआ घंटा कोई ऐसा सुंदर दृश्य नहीं जिसकी योजना से सौंदर्य्य के अनुभव में कुछ और वृद्धि हो । भावानुभव में वृद्धि करने के गुण का नाम ही अलंकार की रमणीयता है।

अब गोस्वामीजी के कुछ अलंकारों को हम इस क्रम से लेते हैं—(१) भावों की उत्कर्ष-व्यंजना में सहायक, (२) वस्तुओं के रूप (सौंदर्य्य, भीषणत्व आदि) का अनुभव तीव्र करने में सहायक, (३) गुण का अनुभव तीव्र करने में सहायक, (४) क्रिया का अनुभव तीव्र करने में सहायक ।

(१) भावों की उत्कर्ष-व्यंजना में सहायक अलंकार

अशोक के नीचे राम के विरह में सीता को चाँदनी धूप सी लगती है—

> डहकु न है उँजियरिया निसि नहिं घाम ।
> जगत जरत अस लागु मोहिं बिनु राम ॥

* साधर्म्यं कविसमयप्रसिद्धं कांतिमत्त्वादि न तु वस्तुत्वप्रमेयत्वादि ग्राह्यम् ।
—विद्याधर ।

यह निश्चयालंकार सीता के विरह-संताप का उत्कर्ष दिखाने में सहायक है। इसी विरह-संताप की प्रचंडता असिद्धास्पद हेतूत्प्रेक्षा द्वारा भी दिखाई गई है—

जेहि बाटिका बसति तहँ खग मृग तजि तजि भजे पुरातन भौन।
स्वास-समीर भेंट भइ भोरेहु तेहि मग पग न धरयो तिहुँ पैान॥

मरते हुए जटायु से राम कहते हैं कि मेरे पिता से सीता-हरण का समाचार न कहना।

सीता-हरन, तात, जनि कहेउ पिता सन जाइ।
जो मैं राम तो कुल सहित कहिहि दसानन आइ॥

यह 'पर्यायोक्ति' राम की धीरता और सुशीलता की व्यंजना में कैसी सहायता करती हुई बैठी है। राम सीता-हरण के समाचार द्वारा अपने पिता को स्वर्ग में भी दुखी करना नहीं चाहते। साथ ही अपनी धीरता भी अत्यंत संकोच और शिष्टता के साथ प्रकट करते हैं। 'राम' कैसा अर्थांतर-संक्रमित पद है।

राम की चढ़ाई का हाल सुनकर इतनी घबराहट हुई, इतनी आशंका फैली कि "बसत गढ़ लंक लंकेस रावन अछत लंक नहिं खात कोउ भात राँध्यो।" यहाँ आशंका को व्यक्त करने में लक्षणा और व्यंजना के मेल से 'विभावना' कितना काम दे रही है।

देखिए, यह रूपक रतिभाव की अनन्यता दिखाने के लिये कैसा दृश्य ऊपर से ला रहा है—

तृषित तुम्हरे दरस कारन चतुर चातक दास।
बपुष-बारिद बरषि छबि-जल हरहु लोचन प्यास॥

एक नई उपमा देखिए। जब कोई राजा धनुष न तोड़ सका, तब जनक ने क्षोभ से भरे उत्तेजक वचन कहे जिन्हें सुनकर लक्ष्मण को तो अमर्ष हुआ, पर अभिमानी राजाओं की यह दशा हुई—

"जनक-बचन छुए बिरवा लजारू के से बीर रहे सकल सकुच सिर नाइ कै।"

इस उपमा में "लज्जा" का उत्कर्ष भी है और क्रिया भी ठीक बिंब-प्रतिबिंब रूप में है; अतः यह बहुत ही अच्छी है।

उन्हीं राजाओं की ईर्ष्या इस विभावना द्वारा कही गई है—

नीच महीपावली दहन बिनु दही है।

राम की निःस्पृहता और संतोष का ठीक अंदाज कराने के लिये उपमा और रूपक के सहारे कैसी बातें सामने लाए हैं—

असन अजरिन को समुझि तिलक तज्यो,
बिपिन गवनु भले भूखे अब सुनाजु भो।
धरमधुरीन धीर बीर रघुबीरजू को,
कोटि राज सरिस भरतजू को राज भो॥

दो भावों के द्वंद्व का कैसा सुंदर और स्पष्ट चित्र इस रूपक में मिलता है—

मन अगहुँड़ तनु पुलक सिथिल भयो, नलिन-नयन भरे नीर।
गड़त गोड़ मानो सकुच पंक महँ, कढ़त प्रेम-बल धीर॥

कौशल्या अपने गंभीर वात्सल्य प्रेम का प्रकाश इस पर्यायोक्ति द्वारा जिस प्रकार कर रही हैं, वह अत्यंत उत्कर्ष-सूचक होने पर भी बहुत ही स्वाभाविक है—

राघव एक बार फिरि आवौ।
ए बर बाजि बिलोकि आपने बहुरो बनहिं सिधावौ॥
जे पय प्याइ पोषि कर-पंकज बार बार चुचुकारे।
क्यों जीवहिं, मेरे राम लाड़िले! ते अब निपट बिसारे॥
सुनहु पथिक जो राम मिलहिं बन कहियो मातु-सँदेसो।
तुलसी मोहिं और सबहिन तें इनको बड़ो अँदेसो॥

जिसके वियोग में घोड़े इतने विकल हैं, उसके वियोग में माता की क्या दशा होगी, यह समझने की बात है—

जासु बियोग बिकल पसु ऐसे। कहहु मातु-पितु जीवहिं कैसे?

'पर्य्यायोक्ति' का आश्रय लोग स्वभावतः किस अवस्था में लेते हैं, यह राम का इन शब्दों में आज्ञा माँगना बता रहा है—

नाथ ! लषन पुर देखन चहहीं । प्रभु सकोच डर प्रगट न कहहीं ॥

लक्ष्मण को शक्ति लगने पर राम को जो मानसिक व्यथा, जो दुःख हो रहा था, उसे लक्ष्मण ने उठकर देखा और वे कहने लगे—

हृदय छाड़ मेरे, पीर रघुबीरै ।
पाइ सजीवन जागि कहत यों प्रेम-पुलकि बिसराय सरीरै ॥

इस 'असंगति' से संजीवनी बूटी का प्रभाव (पीड़ा दूर करने का) भी प्रकट हुआ और राम के दुःख का आतिशय्य भी। अलंकार का ऐसा ही प्रयोग सार्थक है।

रावण और अंगद के संवाद में दोनों की 'व्याज-निंदा' बहुत ही अच्छी है। रावण के इस वचन से कुछ बेपरवाई झलकती है—

धन्य कीस जो निज प्रभु काजा । जहँ तहँ नाचहिं परिहरि लाजा ॥
नाचि कूदि करि लोग रिझाई । पति-हित करैं धरम-निपुनाई ॥

बंदरों का आदमी के हाथ में पड़कर नाचना-कूदना एक नित्य-प्रति देखी जानेवाली बात है। अंगद के इन नीचे लिखे वचनों में कैसा गूढ़ उपहास है—

नाक-कान बिनु भगिनि निहारी । छमा कीन्ह तुम धरम बिचारी ॥
लाजवंत तुम सहज सुभाऊ । निज मुख निज गुन कहसि न काऊ ॥

(२) रूप का अनुभव तीव्र करने में सहायक अलंकार

रूप, गुण और क्रिया तीनों का अनुभव तीव्र करने के लिये अधिकतर सादृश्य-मूलक उपमा आदि अलंकारों का ही प्रयोग होता है। रूप का अनुभव प्रधानतः चार प्रकार का होता है—अनुरंजक, भयावह, आश्चर्यकारक या घृणोत्पादक। इस प्रकार के अनुभव में सहायक होने के लिये आवश्यक यह है कि प्रस्तुत वस्तु

और आलंकारिक वस्तु में बिंब-प्रतिबिंब भाव हो अर्थात् अप्रस्तुत (कवि द्वारा लाई हुई) वस्तु प्रस्तुत वस्तु से रूप-रंग आदि में मिलती-जुलती हो और उससे उसी भाव के उत्पन्न होने की संभावना हो जो प्रस्तुत वस्तु से उत्पन्न हो रहा हो। अब देखिए, तुलसी-दासजी के प्रयुक्त अलंकार कहाँ तक इन बातों को पूरा करते हैं।

सीता के जयमाल पहनाने की शोभा देखिए—

सतानंद-सिष सुनि पायँ परि पहिराई माल
सिय पिय-हिय, सोहत सो भई है।
मानस तें निकसि बिसाल सु-तमाल पर
मानहुँ मराल-पाँति बैठी बनि गई है॥

इस उत्प्रेक्षा में श्रीराम के शरीर और तमाल में श्यामता के विचार से ही बिब-प्रतिबिब भाव है, आकृति का सादृश्य नहीं है; पर मराल-पाँति और जयमाल में वर्ण और आकृति दोनों के सादृश्य से बिब-प्रतिबिब भाव बहुत पूर्णता को पहुँचा हुआ है। पर सबसे बढ़कर बात तो यह है कि तमाल पर बैठी मराल-पंक्ति का नयना-भिरामत्व कैसे प्राकृतिक क्षेत्र से, सौंदर्य्य संग्रह करके, गोस्वामीजी मेल रखने के लिये लाए हैं।

इसी ढंग की एक और उत्प्रेक्षा लीजिए। रणक्षेत्र में रामचंद्र-जी के दूर्वादल-श्याम शरीर पर रक्त की जो छींटें पड़ी हैं, वे कैसी लगती हैं—

सोनित-छींटि-छटान जटे तुलसी प्रभु सोहैं महाछबि छूटी।
मानो मरक्कत-सैल बिसाल में फैलि चलीं बर बीरबहूटी॥

इसमें भी रक्त की छींटों और वीरबहूटियों में वर्ण और आकृति दोनों के विचार से बिब-प्रतिबिब है, पर शरीर और मरकत-शिला में केवल वर्ण का सादृश्य है। पर आकृति का ब्योरा अधिक न मिलना कोई त्रुटि नहीं है; क्योंकि प्रेक्षक कुछ दूर पर खड़ा माना

जायगा। इसी प्रकार देखिए, तट पर से खड़े होकर देखनेवाले को गंगा-यमुना के संगम की छटा कैसी दिखाई पड़ती है—

सोहै सितासित को मिलिबो तुलसी हुलसै हिय हेरि हिलोरे।
मानो हरे तृन चारु चरैं बगरे सुरधेनु के धौल कलोरे॥

एक और सुंदर 'उत्प्रेक्षा' लीजिए—

लता-भवन तें प्रगट भे तेहि अवसर दोउ भाइ।
बिकसे जनु जुग बिमल बिधु जलद-पटल बिलगाइ॥

इस उत्प्रेक्षा में मेघ-खंड के बीच से प्रकट होते हुए चंद्रमा का मनोरम दृश्य लाया गया है जो प्रस्तुत दृश्य की मनोहरता के अनुभव को बढ़ानेवाला है। नेत्र शीतल करने का गुण भी राम-लक्ष्मण और चंद्रमा दोनों में है।

'रूपकातिशयोक्ति' का प्रयोग बहुत से कवियों ने इस ढंग से किया है कि वह एक पहेली सी हो गई है। पर गोस्वामीजी ने उसे अपनी प्रबंध-धारा के भीतर बड़े स्वाभाविक ढंग से बैठाया है—ऐसे ढंग से बैठाया है कि वह अलंकार जान ही नहीं पड़ती, क्योंकि उसमें अप्रस्तुत भी वन के भीतर प्रस्तुत समझे जा सकते हैं। सीता के वियोग में वन वन फिरते हुए राम कहते हैं—

खंजन, सुक, कपोत, मृग, मीना। मधुप-निकर कोकिला प्रबीना॥
कुंद-कली, दाड़िम, दामिनी। सरद-कमल, ससि, अहि-भामिनी॥
वरुण-पाश मनोज, धनु, हंसा। गज केहरि निज सुनत प्रसंसा॥
श्रीफल, कमल, कदलि हरखाहीं। नेकु न संक सकुच मन माहीं॥

गोस्वामीजी की प्रबंध-कुशलता विलक्षण है जिससे प्रकरण-प्राप्त वस्तुएँ अलंकार-सामग्री का काम भी देती चलती हैं। इससे होता यह है कि अलंकारों में कृत्रिमता नहीं आने पाती। रंगभूमि में इधर राम आते हैं, उधर सूर्य का उदय होता है। इस बात पर कवि को यह अपह्नुति सूझती है—

रबि निज उदय-ब्याज रघुराया। प्रभु-प्रताप सब नृपन दिखाया ॥

भिन्न भिन्न गुणों के आश्रयत्व से एक ही राम को गोस्वामीजी ने इतने विभिन्न (कहीं कहीं तो बिलकुल विरुद्ध) रूपों में 'उल्लेख' के सहारे दिखाया है कि जो बेचारे अलंकार-सलंकार नहीं जानते, वे इसे राम की दिव्य विभूति समझकर ही प्रसन्न हो जाते हैं। देखिए—

जिनकै रही भावना जैसी। हरि-मूरति देखी तिन्ह तैसी ॥
देखहिं भूप महा रनधीरा। मनहुँ बीररस धरे सरीरा ॥
डरे कुटिल नृप प्रभुहि निहारी। मनहुँ भयानक मूरति भारी ॥
पुरबासिन्ह देखे दोउ भाई। नर-भूषन लोचन-सुख-दाई ॥
रहे असुर छल-छोनिप-बेषा। तिन प्रभु प्रगट काल-सम देखा ॥

अलंकार के निर्वाह का वे पूरा ध्यान रखते थे। हिरन के पीछे दौड़ते हुए राम को पंचशर कामदेव बनाना है, इसके लिये देखिए इस भ्रमालंकार में वे शरों की गिनती किस प्रकार पूरी करते हैं—

सर चारिक चारु बनाइ कसे कटि, पानि सरासन-सायक लै।
बन खेलत राम फिरैं मृगया, तुलसी छबि सो बरनै किमि कै ?
अवलोकि अलौकिक रूप मृगी मृग चौंकि चकैं चितवैं चित दै।
न डगैं, न भगैं जिय जानि सिलीमुख पंच धरे रतिनायक है ॥

प्रकरण-प्राप्त वस्तुओं के भीतर से ही वे प्रायः अलंकार की सामग्री चुनते हैं। इस 'निदर्शना' में उसका एक और सुंदर उदाहरण लीजिए। विश्वामित्र के साथ जाते हुए बालक राम-लक्ष्मण उनकी नजर बचाकर कहीं धूल-कीचड़ में खेल भी लेते हैं जिसके दाग कहीं कहीं बदन पर दिखाई पड़ते हैं—

सिरनि सिखंड सुमन-दल मंडन बाल सुभाय बनाए।
केलि-अंक तनु रेनु पंक जनु प्रगटत चरित चुराए ॥

कवि लोग कभी कभी दूर की उड़ान भी मारा करते हैं। गोस्वामीजी ने भी कहीं कहीं ऐसा किया है। सीता के रूप-वर्णन में यह "अतिशयोक्ति" देखिए—

जो छबि-सुधा पयोनिधि होई। परम रूपमय कच्छप सोई॥
सोभा रजु मंदर सृंगारू। मथै पानि-पंकज निज मारू॥
यहि बिधि उपजै लच्छि जब सुंदरता-सुख-मूल।
तदपि सकोच समेत कबि कहहिं सीय-सम तूल॥

चंद्रमा के काले दाग पर यह अप्रस्तुत प्रशंसा देखिए—

कोउ कह जब बिधि रति मुख कीन्हा। सार भाग ससि कर हरि लीन्हा॥
छिद्र सो प्रगट इंदु उर माहीं। तेहि सम देखिय नभ परछाहीं॥

रूप-संबंधी कुछ और उक्तियाँ देखिए—

(क) सम सुबरन सुषमाकर सुखद न थोर।
सीय अंग, सखि, कोमल, कनक कठोर॥
सियमुख सरद्-कमल जिमि किमि कहि जाइ?
निसि मलीन वह, निसि दिन यह बिगसाइ॥ (व्यतिरेक)

(ख) सिय तुव अंग-रंग मिलि अधिक उदोत।
हार बेलि पहिरावौं चंपक होत॥ (मीलित)

(ग) चंपक-हरवा अँग मिलि अधिक सुहाइ।
जानि परै सिय-हियरे जब कुम्हिलाइ॥ (उन्मीलित)

(घ) केस मुकुत, सखि, मरकत मनिमय होत।
हाथ लेत पुनि मुकुता करत उदोत॥ (अतद्गुण)

(च) मुख-अनुहरिया केवल चंद-समान। (प्रतीप)

(छ) द्वैभुज कर हरि रघुबर सुंदर बेष।
एक जीभ कर लछिमन दूसर शेष॥ (हीन अभेद रूपक)

जहाँ वस्तु या व्यापार अगोचर होता है, वहाँ अलंकार उसके अनुभव में सहायता गोचर रूप प्रदान करके करता है; अर्थात् वह

पहले गोचर-प्रत्यक्षीकरण करके बोध-वृत्ति की कुछ सहायता करता है, तब फिर रागात्मिका वृत्ति को उत्तेजित करता है। जैसे, यदि कोई आनेवाली विपत्ति या अनिष्ट का कुछ भी ध्यान न करके अपने रंग में मस्त रहता हो और कोई उसको देखकर कहे कि—"चरै हरित तृन बलि-पसु जैसे" तो इस कथन से उसकी दशा का प्रत्यक्षीकरण कुछ अधिक हो जायगा जिससे उसमें भय का संचार पहले से कुछ अधिक हो सकता है।

'भव-बाधा' कहने से कोई विशेष रूप सामने नहीं आता, सामान्य अर्थ-ग्रहण मात्र हो जाता है। इससे गोस्वामीजी उसे व्याल का गोचर रूप देते हुए 'परिकरांकुर' का अवलंबन करते हुए कहते हैं—

तुलसिदास भव-ब्याल-ग्रसित तव सरन उरग-रिपु-गामी॥

इसी प्रकार कैकेयी की भीषणता सामने खड़ी की गई है—

लखी नरेस बात यह साँची। तिय मिस मीच सीस पर नाची॥

(३) क्रिया का अनुभव तीव्र करने में सहायक अलंकार

क्रिया और गुण का अनुभव तीव्र कराने के लिये प्रस्तुत-अप्रस्तुत वस्तु के बीच या तो 'अनुगामी' (एक ही) धर्म होता है, या 'वस्तु-प्रति-वस्तु' या उपचरित। सीधी भाषा में यों कह सकते हैं कि अलंकार के लिये लाई हुई वस्तु और प्रसंग-प्राप्त वस्तु का धर्म या तो एक ही होता है, या अलग अलग कहे जाने पर भी दोनों के धर्म समान होते हैं; अथवा एक के धर्म का उपचार दूसरे पर किया जाता है; जैसे, उसका हृदय पत्थर के समान है।

देखिए, केवल क्रिया की तीव्रता का अनुभव कराने के लिये इस 'ललितोपमा' का प्रयोग हुआ है—

मारुतनंदन मारुत को, मन को, खगराज को बेग लजायो।

सीता के प्रति कहे हुए रावण के वचन को सुनकर हनुमान्‌जी को जो क्रोध हुआ, उसके वर्णन में इस रूपक का प्रयोग भी ऐसा ही है—

अकनि कटु बानी कुटिल की क्रोध-बिंध्य बढ़ोइ।
सकुचि राम भयो ईस-आयसु-कलसभव जिय जोइ॥

इनमें क्रिया या वेग को छोड़ प्रस्तुत-अप्रस्तुत में रूप आदि का कोई सादृश्य नहीं है। पर गोस्वामीजी के ग्रंथों में ऐसे स्थल भी बहुत से मिलते हैं जिनमें बिंब-प्रतिबिंब भाव से प्रस्तुत और अप्रस्तुत की स्थिति भी है और धर्म भी वस्तु-प्रतिवस्तु है। एक उदाहरण लीजिए—

बालधी बिसाल बिकराल ज्वाल-जाल मानो,
लंक लीलिबे को काल रसना पसारी है।
कैधों ब्योम-बीथिका भरे हैं भूरि धूमकेतु,
बीर रस बीर तरवारि सी उघारी है।
तुलसी सुरेस-चाप, कैधों दामिनी-कलाप
कैधों चली मेरु तें कृसानु-सरि भारी है।

इसमें 'उत्प्रेक्षा' और 'संदेह' का व्यवहार किया गया है। इधर-उधर घूमती हुई जलती पूँछ तथा काल की जीभ और तलवार में बिंब-प्रतिबिंब भाव (रूप-सादृश्य) भी है तथा संहार करने और दाह करने में वस्तु-प्रतिवस्तु धर्म भी है। इस दृष्टि से यह अलंकार बहुत ही अच्छा है।

दो-एक जगह ऐसे उपमान भी मिलते हैं जिनमें कवि के अभिप्रेत विषय में तो सादृश्य है, पर शेष विषयों में इतना अधिक असादृश्य है कि उपमान की हीनता खटकती है; जैसे—

सेवहिं लषन-सीय रघुबीरहिं। जिमि अविवेकी पुरुष सरीरहिं॥

पर कहीं कहीं इस हीनता को कुछ अपने ऊपर लेकर गोस्वामीजी ने उसका सारा दोष हर लिया है—

कामिहि नारि पियारि जिमि, लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुबंस निरंतर, प्रिय लागहु मोहिं राम॥

नीचे लिखे 'रूपक' में उपमान और उपमेय का अनुगामी (एक ही) धर्म बड़ा ही सुंदर रीति से आया है—

नृपन केरि आसा-निसि नासी। बचन-नखत-अवली न प्रकासी॥
मानी महिप-कुमुद सकुचाने। कपटी भूप उलूक लुकाने॥

इसमें ध्यान देने की पहली बात यह है कि केवल क्रिया का सादृश्य है, रूप आदि का कुछ भी सादृश्य नहीं है। दूसरी बात यह है कि यद्यपि यहाँ 'सकुचना' और 'लज्जित होना' आए हैं, पर रूपक का उद्देश्य इन भावों का उत्कर्ष दिखाना नहीं है, बल्कि एक साथ इतनी भिन्न भिन्न क्रियाओं का होना ही दिखाना है।

एक ही क्रिया का संबंध अनेक पदार्थों से दिखाती हुई यह 'तुल्ययोगिता' भी बड़ी ही सटीक बैठी है—

सब कर संसय अरु अग्यानू। मंद महीपन कर अभिमानू॥
भृगुपति केरि गर्ब गरुआई। सुर-मुनि-बरन केरि कदराई॥
सिय कर सोच, जनक-परितापा। रानिन कर दारुन-दुख-दापा॥
संभुचाप बड़ बोहित पाई। चढ़े जाइ सब संग बनाई।

प्रबंध-धारा के बीच यह अलंकार ऐसा मिला हुआ है कि ऊपर से देखने में इसकी अलंकारता प्रकरण से अलग नहीं मालूम होती। 'बोहित' को छोड़ और कोई सामग्री कवि-प्रतिभा-प्रदत्त या ऊपर से लाई हुई नहीं है। हाँ, वस्तुओं की जो सुंदर योजना है, वह अवश्य कवि की प्रतिभा का फल है। यही प्रतिभा कवि को प्रबंध-रचना का अधिकार देती है; कौतुकी कवियों की वह प्रतिभा नहीं जो पंचवटी की शोभा के वर्णन के समय प्रलय-काल के बारहों सूर्य उतार लाती है। प्राप्त प्रसंग के गोचर-अगोचर सब पक्षों तक जिसकी दृष्टि पहुँचती है, किसी परिस्थिति में अपने को डालकर

उसके अंग-प्रत्यंग का साक्षात्कार जिसका विशाल अंतःकरण कर सकता है, वही प्रकृत कवि है। जी न चाहने पर भी विवश होकर यह कहना पड़ता है कि गोस्वामीजी को छोड़ हिंदी के और किसी कवि में वह प्रबंध-पटुता नहीं जो महाकाव्य की रचना के लिये आवश्यक है। प्रकरण-प्राप्त विषयों को अलंकार-सामग्री बनाते हुए किस प्रकार वे स्थान स्थान पर प्रबंध-प्रवाह के भीतर ही अलंकारों का विधान भी करते चलते हैं, यह हम दिखाते आ रहे हैं। एक और उदाहरण लीजिए जिसमें 'सहोक्ति' द्वारा एक ही क्रिया (धनुर्भंग) का कैसा विशद संग्राहक रूप दिखाया गया है—

गहि करतल, मुनि पुलक सहित, कौतुकहि उठाइ लियो।
नृपगन मुखनि समेत नमित करि सजि सुख सबहि दियो॥
आकरष्यो सिय-मन समेत हरि, हरष्यो जनक-हियो।
भंज्यो भृगुपति-गर्ब-सहित, तिहुँ लोक बिमोह कियो॥

परिणाम का स्वरूप आगे रखकर कर्म की भयंकरता अनुभव कराने का कैसा प्रकृत प्रयत्न इस 'अप्रस्तुत प्रशंसा' में दिखाई पड़ता है—

मातु-पितहि जनि सोच-बस करसि महीप-किसोर।

इसी प्रकार कर्म के स्वरूप को एकबारगी नजर के सामने लाने के लिये 'ललित' अलंकार द्वारा उसका यह गोचर स्वरूप सामने रखा गया है—

यहि पापिनिहि बूझि का परेऊ ? छाए भवन पर पावक धरेऊ॥

क्रूर और नीच मनुष्य यदि कभी आकर नम्रता प्रकट करे तो इसे बहुत डर की बात समझना चाहिए। नीचों की नम्रता की यह भयंकरता गोस्वामीजी ने बड़े ही अच्छे ढंग से गोचर की है—

नवनि नीच कै अति दुखदाई। जिमि अंकुस, धनु, उरग, बिलाई।

यही बात दोहावली में दूसरे ढंग से कही गई है—

मिलै जो सरलहि सरल ह्वै, कुटिल न सहज बिहाइ।
सो सहेतु, ज्यों बक्रगति ब्याल न बिलै समाइ॥

जिसे हम पचासों बार दुष्टता करते देख चुके हैं, वह यदि कभी बहुत सीधा बनकर आवे तो यह समझ लेना चाहिए कि वह अपना कोई मतलब निकालने के लिये तैयार हुआ है। मतलब निकालने के लिये तैयार दुष्ट संसार में कितनी भयंकर वस्तु है !

क्रोध से भरी कैकेयी राम को वन भेजने पर उद्यत होकर खड़ी होती है। उस समय उसके कर्म और संकल्प की सारी भीषणता गोचर नहीं हो रही है। देश और काल का व्यवधान पड़ता है। इससे गोस्वामीजी रूपक द्वारा उसे प्रत्यक्ष कर रहे हैं—

अस कहि कुटिल भई उठि ठाढ़ी। मानहुँ रोष-तरंगिनि बाढ़ी॥
पाप-पहार प्रगट भइ सोई। भरी क्रोध-जल जाइ न जोई॥
दोउ बर कूल, कठिन हठ धारा। भँवर कूबरी-बचन प्रचारा॥
ढाहत भूप-रूप तरु-मूला। चली बिपति-बारिधि-अनुकूला॥

'पाप' और 'पहाड़' तथा 'क्रोध' और 'जल' में यहाँ अनुगामी धर्म है, शेष में वस्तु-प्रतिवस्तु। जैसे नदी के दो कूल होते हैं, वैसे ही उसके क्रोध के दो पक्ष दोनों वर हैं; जैसे धारा में वेग होता है, वैसे ही हठ में है; जैसे भँवर मनुष्य का निकलना कठिन कर देता है, वैसे ही कूबरी के वचन परिस्थिति को और कठिन कर रहे हैं। यह सांग रूपक कैकेयी के कर्म की भीषणता को खूब आँख के सामने ला रहा है। भाव या क्रिया की गहनता द्योतित करने के लिये गोस्वामीजी ने प्रायः नदी और समुद्र के रूपक का आश्रय लिया है। चित्रकूट में अपने भाइयों के सहित रामचंद्र जनक से मिलकर उन्हें अपने आश्रम पर ले जा रहे हैं। वह समाज ऐसे शोक से भरा हुआ था जिसका प्रत्यक्षीकरण इस 'रूपक' के ही द्वारा अच्छी तरह हो सकता था—

आश्रम - सागर - सांतरस पूरन पावन पाथ ।
सेन मनहुँ करुना-सरित लिए जाहिं रघुनाथ ॥
बोरति ग्यान-बिराग-करारे । बचन ससोक मिलत नद-नारे ॥
सोच उसास समीर तरंगा । धीरज तट तरुबर कर भंगा ॥
बिषम बिषाद तुरावति धारा । भय भ्रम भँवर अबर्त्त अपारा ॥
केवट बुध, बिद्या बड़ि नावा । सकहिं न खेइ एक नहिं आवा ॥
आस्रम-उदधि मिली जब जाई । मनहुँ उठेउ अंबुधि अकुलाई ॥

(४) गुण का अनुभव तीव्र करने में सहायक अलंकार

देखिए, इस 'व्यतिरेक' की सहायता से संतों का स्वभाव किस सफाई के साथ औरों से अलग करके दिखाया गया है—

संत-हृदय नवनीत-समाना । कहा कबिन पै कहइ न जाना ॥
निज परिताप द्रवै नवनीता । पर दुख द्रवैं सुसंत पुनीता ॥

संतों और असंतों के बीच के भेद को थोड़ा कहते कहते 'व्याघात' द्वारा कितना बड़ा कह डाला है, जरा यह भी देखिए—

बंदौं संत असज्जन चरना । दुख-प्रद उभय, बीच कछु बरना ॥
मिलत एक दारुन दुख देहीं । बिछुरत एक प्रान हरि लेहीं ॥

इस इतने बड़े भेद को थोड़ा कहनेवाले का हृदय कितना बड़ा होगा !

कवि लोग अपनी चतुराई दिखाने के लिये श्लेष, कूट, प्रहेलिका आदि लाया करते हैं, पर परम भावुक गोस्वामीजी ने ऐसा कहीं नहीं किया । एक स्थान पर ऐसी युक्ति-पटुता है, पर वह आख्यान-गत पात्र का चातुर्य्य दिखाने के लिये ही है । लक्ष्मण से शूर्पणखा के नाक-कान काटने के लिये राम इस तरह इशारा करते हैं—

बेद नाम कहि, अँगुरिन खंडि अकास ।
पठयो सूपनखाहि लषन के पास ॥

(वेद = श्रुति = कान । आकाश = स्वर्ग = नाक ।)

गोस्वामीजी की रचना में बहुत से स्थल ऐसे भी हैं, जहाँ यह निश्चय करने में गड़बड़ी हो सकती है कि यहाँ अलंकार है या भाव। इसकी संभावना वहीं होगी जहाँ स्मरण, संदेह और भ्रांति का वर्णन होगा। स्मरण का यह उदाहरण लीजिए—

बीच बास करि जमुनहिं आए। निरखि नीर लोचन जल छाए॥

इसे न विशुद्ध अलंकार ही कह सकते हैं, न भाव ही। उपमेय और उपमान (राम के शरीर, यमुना के जल) के सादृश्य की ओर ध्यान देते हैं तो स्मरण अलंकार ठहरता है; और जब अश्रु सात्त्विक की ओर देखते हैं तो स्मरण संचारी भाव निश्चित होता है। सच पूछिए तो इसमें दोनों हैं। पर इसमें संदेह नहीं कि भाव का उद्रेक अत्यंत स्वाभाविक है और यहाँ वही प्रधान है, जैसा कि "लोचन जल छाए" से प्रकट होता है। विशुद्ध अलंकार तो वहीं कहा जा सकता है जहाँ सदृश वस्तु लाने में कवि का उद्देश्य केवल रूप, गुण या क्रिया का उत्कर्ष दिखाना रहता है। अलंकार का स्मरण प्राय: वास्तविक नहीं होता; रूप-गुण आदि के उत्कर्ष-प्रदर्शन का एक कौशल मात्र होता है। दूसरी बात ध्यान देने की यह है कि स्मरण भाव केवल सदृश वस्तु से ही नहीं होता, संबंधी वस्तु से भी होता है। शुद्ध 'स्मरण' भाव का यह उदाहरण बहुत ही अच्छा है—

जननी निरखति बान धनुहियाँ।
बार बार उर नयननि लावति प्रभुजू की ललित पनहियाँ॥

अब भ्रम का एक ऐसा ही उदाहरण लीजिए। सीताजी अपने जलने के लिये अशोक से अंगार माँग रही थीं। इतने में हनुमान् ने पेड़ के ऊपर से राम की 'मनोहर मुद्रिका' गिराई और—

"जानि असोक-अँगार सीय हरषि उठि कर गह्यो"।

इसी प्रकार जहाँ उत्तरकांड में अयोध्या की विभूति का वर्णन है, वहाँ कहा गया है—

"मनि मुख मेलि डारि कपि देहीं"।

इन दोनों उदाहरणों में 'भ्रम' अलंकार नहीं है। अलंकार में भ्रम के विषय की विशेषता होती है, भ्रांत की नहीं। भ्रांत की विशेषता में तो पागलों का भ्रम भी अलंकार हो जायगा। सीता का जो भ्रम है, वह विरह की विह्वलता के कारण और बंदरों का जो भ्रम है, वह पशुत्व के कारण। इस प्रकार का भ्रम अलंकार नहीं, यह बात आचार्यों ने स्पष्ट कह दी है—

मर्मप्रहारकृत-चित्तविक्षेप-विरहादिकृतोन्मादादिजन्यभ्रान्तेश्च नालंकारत्वम्।

—उद्योतकार।

संदेह के संबंध में भी यही बात समझिए जो ऊपर कही गई है। तीनों में सादृश्य आवश्यक है। संदेह तो अलंकार तभी होगा जब उसको लाने का मुख्य उद्देश्य रूप, गुण, क्रिया का उत्कर्ष (अपकर्ष भी) सूचित करना होगा। ऐसा संदेह वास्तविक भी हो सकता है, पर वहाँ अलंकारत्व कुछ दबा सा रहेगा। जैसे, "की मैनाक कि खग-पति होई" में जो संदेह है, वह कवि के प्रबंध-कौशल के कारण वास्तविक भी है तथा आकार की दीर्घता और वेग की तीव्रता भी सूचित करता है। पर नीचे लिखा उदाहरण यदि लीजिए तो उसमें कुछ भी अलंकारत्व नहीं है—

की तुम हरिदासन महँ कोई। मोरे हृदय प्रीति अति होई॥
की तुम राम दीन-अनुरागी। आए मोहिं करन बड़-भागी॥

अलंकार का विषय समाप्त करने के पहले दो चार बातें कह देना आवश्यक है। पहली बात तो यह है कि सब अलंकार आने पर भी गोस्वामीजी की रचना कहीं ऐसी नहीं है कि पहले अलंकार का पता लगाया जाय तब अर्थ खुले। जो अलंकार का

नाम तक नहीं जानते, वे भी अर्थ-ग्रहण करके पूरा आनंद उठाते हैं। एक बिहारी हैं कि पहले 'नायिका' का पता लगाइए, फिर अलंकार निश्चित कीजिए, और तब दोनों की सहायता से प्रसंग की ऊहा कीजिए, तब जाकर कहीं अर्थ से भेंट हो। गोस्वामीजी की इस अद्भुत विशेषता का कारण है उनकी अपूर्व प्रबंध-पटुता जिसके बल से उन्होंने अपनी प्रबंध-धारा के साथ, अधिकतर प्रकरण-प्राप्त वस्तुओं को ही लेकर, अलंकारों को इस सफाई से मिलाया है कि जोड़ मालूम नहीं पड़ता।

ध्यान देने की दूसरी बात यह है कि गोस्वामीजी श्लेष, यमक, मुद्रा आदि खेलवाड़ों के फेर में एक तरह से बिल्कुल नहीं पड़े हैं। इसका मतलब यह नहीं कि शब्दालंकार का सौंदर्य्य उनमें नहीं। ओज, माधुर्य्य आदि का विधान करनेवाले वर्ण-विन्यास का आश्रय उन्होंने लिया है। उनकी रचना शब्द-सौंदर्य्य-पूर्ण है। अनुप्रास के तो वे बादशाह थे। अनुप्रास किस ढंग से लाना चाहिए, उनसे यह सीखकर यदि बहुत से पिछले फुटकरिए कवियों ने अपने कवित्त-सवैए लिखे होते, तो उनमें वह भद्दापन और अर्थ-न्यूनता न आने पाती। तुलसी की रचना में कहीं कहीं एक ही वर्ण की आवृत्ति सारे चरण में यहाँ से वहाँ तक चली गई है, पर प्रसंग-बाह्य या भरती का शब्द एक भी नहीं। दो नमूने बहुत होंगे—

(क) जग जाँचिए कोउ न, जाँचिए जौ, जिय जाँचिए जानकी-जानहि रे।
जेहि जाचत जाचकता जरि जाइ जो जारति जोर जहानहि रे॥

(ख) खल-परिहास होहि हित मेरा। काक कहहिं कल-कंठ कठोरा॥

और उदाहरण ढूँढ़ लीजिए; कुछ भी कष्ट न होगा; जहाँ ढूँढ़िएगा, वहीं मिलेंगे।

श्लेष, परिसंख्या जैसे कृत्रिमता लानेवाले अलंकारों का व्यवहार भी इनकी रचनाओं में नहीं मिलता। इस प्रसिद्ध उदाहरण

को छोड़, हम समझते हैं, परिसंख्या का शायद ही कोई और उदाहरण इनकी रचनाओं भर में मिले—

दंड जतिन कर, भेद जहँ नर्त्तक नृत्य-समाज।
जितहु मनहिं अस सुनिय जग रामचंद्र के राज॥

शब्द-श्लेष के उदाहरण भी ढूँढ़ने पर चार ही पाँच जगह मिलते हैं; जैसे—

(क) साधु-चरित सुभ सरिस कपासू। निरस बिसद गुनमय फल जासू॥
(ख) बहुरि सक्र-सम बिनवौं तेही। संतत सुरानीक हित जेही॥
(ग) रावन-सिर - सरोज- बनचारी। चलि रघुबीर-सिलीमुख-धारी॥
(घ) सेवा-अनुरूप फल देत भूप कूप ज्यों,
बिहूने गुन पथिक पियासे जात पथ के।

इसी प्रकार 'यमक' का व्यवहार भी कम ही मिलता है; जैसे—

काढ़ि कृपान कृपा न कहूँ, पितु काल-कराल बिलोकि न भागे।
'राम कहाँ?' 'सब ठाउँ है', 'खंभ में?', 'हाँ', सुनि हाँक नृ-केहरि जागे॥

गोस्वामीजी को रामचरित की ओर सब प्रकार के लोगों को आकर्षित करना था; जो जिस रुचि से आकर्षित हो, उसी से सही। इससे उन्होंने अलंकार की भद्दी रुचि रखनेवालों को भी निराश नहीं किया और इस तरह के भी कुछ अलंकार कहे जिस तरह का विनय-पत्रिका में यह 'सांग रूपक' है—

सेइय सहित सनेह देह भरि कामधेनु कलि कासी।
मरजादा चहुँ ओर चरन बर सेवत सुर-पुर-बासी॥
तीरथ सब सुभ अंग, रोम सिवलिंग अमित अबिनासी।
अंतरअयन अयन भल थन, फल बच्छ बेद-बिस्वासी॥
गल-कंबल बरुना बिभाति, जनु लूम लसति सरिता सी।
लोलदिनेस त्रिलोचन लोचन, करनघंट घंटा सी॥

कहिए, काशी की इन वस्तुओं का सींग, पूँछ, गल-कंबल आदि के साथ कहाँ तक सादृश्य है! अनुगामी धर्म, वस्तु-प्रतिवस्तु धर्म, उपचरित धर्म, बिंब-प्रतिबिंब रूप आदि ढूँढ़ने से कहाँ तक मिल सकते हैं? 'घंटा' और 'करनघंटा' में तो केवल शब्दात्मक सादृश्य ही है। इसी प्रकार विनय-पत्रिका में अर्द्धनारीश्वर शिव को वसंत बनाया है और गीतावली में चित्रकूट की वनस्थली को होली का स्वाँग। पर फिर भी यही कहना पड़ता है कि इसमें गोस्वामीजी का दोष नहीं; यह एक वर्ग विशेष की रुचि का प्रसाद है। इतनी विस्तृत रचना के भीतर दो-चार ऐसे स्थलों से उनके रुचि-सौंदर्य्य में अणु-मात्र भी संदेह नहीं उत्पन्न हो सकता।

उक्ति-वैचित्र्य

उक्ति-वैचित्र्य से यहाँ हमारा अभिप्राय उस बे पर की उड़ान से नहीं है जिसके प्रभाव से कवि लोग जहाँ रवि भी नहीं पहुँचता, वहाँ से अपनी उत्प्रेक्षा, उपमा आदि के लिये सामग्री लिया करते हैं। मेरा अभिप्राय कथन के उस अनूठे ढंग से है जो उस कथन की ओर श्रोता को आकर्षित करता है तथा उसके विषय को मार्मिक और प्रभावशाली बना देता है। ऐसी उक्तियों में कुछ तो शब्द की लक्षणा-व्यंजना-शक्ति का आश्रय लिया जाता है और कुछ काकु, पर्य्यायोक्ति ऐसे अलंकारों का। ऐसी उक्तियाँ गोस्वामीजी की रचनाओं में भरी पड़ी हैं; अतः केवल दो-चार का दिग्दर्शन ही यहाँ हो सकता है।

राम की शोभा वर्णन करते हुए एक स्थान पर कवि कहता है—"मनहुँ उमगि अँग अँग छबि छलकै"। इस 'छलकै' शब्द में कितनी शक्ति है! यह व्यापार को कैसा गोचर रूप प्रदान करता है! इसका वाच्यार्थ अत्यंत तिरस्कृत है। लक्षणा से इसका अर्थ होता है—"प्रभूत परिमाण में प्रकट होना"। पर 'अभिधा' द्वारा इस प्रकार कहने से वैसी तीव्र अनुभूति नहीं उत्पन्न हो सकती।

'विनय-पत्रिका' में गोस्वामीजी राम से कहते हैं—

"हौं सनाथ ह्वैहौं सही, तुमहूँ अनाथ-पति जौ लघुतहि न मितैहौ"।

'लघुता से भयभीत होना' कैसी विलक्षण उक्ति है, पर साथ ही कितनी सच्ची है! शानदार अमीर लोग गरीबों से क्यों नहीं बातचीत करते? उनकी 'लघुता' ही के भय से न? वे यही न डरते हैं कि इतने छोटे आदमी के साथ बातचीत करते लोग देखेंगे तो क्या कहेंगे। अतः लघुता से भयभीत होने में जो एक प्रकार का विरोध

सा लक्षित होता है, वह हृदय पर किस शक्ति के साथ प्रभाव डालता है !

राम के वन चले जाने पर कौशल्या दु:ख से विह्वल होकर कहती हैं—

"हौं घर रहि मसान-पावक ज्यों मरिबोइ मृतक दह्यो है"।

कौशल्या को घर श्मशान सा लग रहा है। इस श्मशान की अग्नि में कौशल्या को भस्म हो जाना चाहिए था। पर वे कहती हैं कि इस अग्नि में भस्म होना चाहिए था मुझे, पर जान पड़ता है कि मैंने अपनी मृत्यु का शव ही इसमें जलाया है। भाव तो यही है कि मुझे मृत्यु भी नहीं आती, पर अनूठे ढंग से व्यक्त किया गया है। ऐसी ऐसी उक्तियों के लिये अँगरेज महाकवि शेक्सपियर प्रसिद्ध हैं।

अब कौशल्याजी मरतीं क्यों नहीं, इसका कारण उन्हीं के मुख से सुनिए—

लगे रहत मेरे नयननि आगे राम-लषन अरु सीता।

* * * * *

दुख न रहैं रघुपतिहि बिलोकत, मनु न रहै बिनु देखे॥

राम-लक्ष्मण की मूर्ति हृदय से हटती ही नहीं, बिना उनकी मूर्ति सामने लाए मन से रहा ही नहीं जाता। और जब उनकी मूर्ति मन के सामने आ जाती है तब दु:ख नहीं रह जाता। मरें तो कैसे मरें ?

एक और उक्ति सुनिए, जो है तो साधारण ही, पर एक अपूर्वता के साथ—

"कियो न कछू, करिबो न कछू, कहिबो न कछू, मरिबोइ रह्यो है"।

और सब काम तो मैं कर चुका, मरने का काम भर और रह गया है। किसी अँगरेज कवि ने भी कहीं इसी भाव से कहा है—

I have my dying to do.

लोग मैत्री और प्रीति को बड़े इत्मिनान के साथ धीरे धीरे करते हैं, पर एक जरा सी बात पर उसे चट तोड़ देते हैं—

"थोरेहि कोप कृपा पुनि थोरेहि, बैठि के जोरत तोरत ठाढ़े" ।

यहाँ 'बैठि' और 'ठाढ़े' दोनों का लक्ष्यार्थ ध्यान देने योग्य है। इसी प्रकार की एक और लक्षणा देखिए—

"बड़े ही समाज आज राजनि की लाजपति
हाँकि आँक एक ही पिनाक छीनि लई है" ।

'उपादान लक्षणा' के उदाहरण हिंदी में कम मिलते हैं। देखिए, उसका कैसा चलता उदाहरण इस दोहे में है—

तुलसी बैर सनेह दोउ रहित बिलोचन चारि ।

बोलचाल में बराबर आता है कि 'प्रेम अंधा होता है' ।

एक स्थान पर गोस्वामीजी एक ही क्रिया के दो ऐसे कर्म लाए हैं जो परस्पर अत्यंत विजातीय होने के कारण बहुत ही अनूठे लगते हैं। हनुमान्‌जी पर्वत लिए हुए राम के पास आ पहुँचते हैं; इस पर—

'बेग बल साहस सराहत कृपा-निधान, भरत की कुसल अचल लाए चलिकै' ।

भरत की कुशल और पर्वत दोनों लाए। इसमें चमत्कार दोनों वस्तुओं के अत्यंत विजातीय होने के कारण है। अँगरेज उपन्यास-कार डिकेंस (Dickens) को ऐसे प्रयोग बहुत अच्छे लगते थे; जैसे, "इस बात ने उसकी आँखों से आँसू और जेब से रूमाल निकाल दिया"—This drew tears from her eyes and handkerchief from her pocket.

(क) मांगि कै खैबो मसीद को सोइबो, लैबे को एक न दैबे को दोऊ ;

(ख) मन-मोदकनि कि भूख बुताई ?

पर सबसे बड़ी विशेषता गोस्वामीजी की है भाषा की सफाई और वाक्य-रचना की निर्दोषता जो हिंदी के और किसी कवि में ऐसी नहीं पाई जाती। यही दो बातें न होने से इधर के शृंगारी कवियों की कविता और भी पढ़े-लिखे लोगों के काम की नहीं हुई। हिंदी का भी व्याकरण है, 'भाषा' में भी वाक्य-रचना के नियम हैं, अधिकतर लोगों ने इस बात को भूलकर कवित्त-सवैयों के चार पैर खड़े किए हैं। गोस्वामीजी के वाक्यों में कहीं शैथिल्य नहीं है, एक भी शब्द ऐसा नहीं है जो पाद-पूर्त्यर्थ रखा हुआ कहा जा सके। ऐसी गठी हुई भाषा किसी की नहीं है। उदाहरण देने की न जगह ही है, न उतनी आवश्यकता ही। सारी रचना इस बात का उदाहरण है। एक ही चरण में वे बहुत सी बातें इस तरह कह जाते हैं, कि न कहीं से शैथिल्य आता है न न्यूनपदत्व—

परुष बचन अति दुसह स्रवन सुनि तेहि पावक न दहैंगो।
बिगत मान सम-सीतल मन पर गुन, नहिं दोष, कहैंगो॥

कहीं कहीं तो ऐसा है कि पद भर में यहाँ से वहाँ तक एक ही वाक्य चला गया है, पर क्या मजाल कि अंत तक एक सर्वनाम में भी त्रुटि आने पावे—

जेहि कर अभय किए जन आरत बारक बिबस नाम टेरे।
जेहि कर-कमल कठोर संभु-धनु भंजि जनक-संसय मेट्यो।
जेहि कर-कमल उठाइ बंधु ज्यों परम प्रीति केवट भेंट्यो॥
जेहि कर-कमल कृपालु गीध कहँ उदक देइ निज लोक दियो।
जेहि कर बालि बिदारि दास-हित कपि-कुल-पति सुग्रीव कियो॥
आए सरन सभीत बिभीषन जेहि कर-कमल तिलक कीन्हों।
जेहि कर गहि सर-चाप असुर हति अभय-दान देवन दीन्हों॥

सीतल सुखद छाँह जेहि कर की मेटति पाप ताप माया।
निसि-बासर तेहि कर-सरोज की चाहत तुलसिदास छाया॥

कैसा सुव्यवस्थित वाक्य है। और कवियों के साथ तो तुलसी का मिलान ही क्या। 'वाक्य-दोष' हिंदी में भी हो सकते हैं, इसका ध्यान तो बहुत कम लोगों को रहा। सूरदासजी भी इस बात में तुलसी से बहुत दूर हैं। उनके वाक्य कहीं कहीं उखड़े से हैं, उनमें वह संबंध-व्यवस्था नहीं है। उनके पदों के कुछ अंश नीचे नमूने के लिये दिए जाते हैं—

(क) श्रवण चीर अरु जटा बँधावहु ये दुख कौन समाहीं।
चंदन तजि अँग भस्म बतावत बिरह-अनल अति दाहीं॥

(ख) कै कहुँ रंक, कहूँ ईश्वरता नट बाजीगर जैसे।
चेत्यो नहीं गयो टरि अवसर मीन बिना जल जैसे॥

(ग) भाव-भक्ति जहँ हरि-जस सुनयो तहाँ जात अलसाई।
लोभातुर ह्वै काम-मनोरथ तहाँ सुनत उठि धाई॥

इस प्रकार की शिथिलता तुलसीदासजी में कहीं न मिलेगी। लिंग आदि का भी सूरदासजी ने कम ध्यान रखा है; जैसे—

कागरूप इक दनुज धरयो।
बोल्यो जाय उवाव जब आयो सुनहु कंस तेरो आयु सरयो।

इसी प्रकार तुकांत और छंद के लिये शब्दों के रूप भी सूरदासजी ने बहुत बिगाड़े हैं; जैसे—

(क) पलित केस, कफ कंठ बिरोध्यो, कल न परी दिन-रानी।
माया-मोह न छाँड़ै तृष्णा, ये दोऊ दुख-दानी॥

(ख) राम भक्त-वत्सल निज बानो।
राजसूय में चरन पखारे स्याम लिए कर पानो॥

क्या यह कहने की आवश्यकता है कि तुलसीदासजी को यह सब करने की आवश्यकता नहीं पड़ी है? लिंग-भेद में तो एक एक मात्रा का उन्होंने ध्यान रखा है—

राम सत्य-संकल्प प्रभु सभा काल-बस तोरि।
मैं रघुबीर सरन अब जाउँ देहु नहिं खोरि॥

नीचे की चौपाई—

मर्म बचन जब सीता बोला। हरि-प्रेरित लछिमन-मन डोला॥

में जो लिंग की गड़बड़ी दिखाई पड़ती है वह 'बोला' को 'बोल' मान लेने से और ल' की दीर्घता को चौपाई के पदांत के कारण ठहराने से दूर हो जाती है। अवधी मुहावरे में 'बोल' का अर्थ होगा 'बोलती है', जैसे 'उत्तर दिसि सरजू बह पावनि' में 'बह' का अर्थ है 'बहती है'।

घुँघरारी लटैं लटकैं मुख ऊपर, कुंडल लोल कपोलन की।
निवछावरि प्रान करै तुलसी, बलि जाउँ लला इन बोलन की॥

वाक्यों की ऐसी अव्यवस्था एक-आध जगह कोई भले ही दिखा दे, पर वह अधिक नहीं पा सकता। सर्वत्र वही परिष्कृत गठी हुई सुव्यवस्थित भाषा मिलेगी।

कुछ खटकनेवाली बातें

इतनी विस्तृत रचना के भीतर दो-चार खटकनेवाली बातें भी मिलती हैं, जिनका संक्षेप में उल्लेख मात्र यहाँ कर दिया जाता है—

(१) ऐतिहासिक दृष्टि की न्यूनता। इस दोष से तो शायद ही कोई बच सकता हो। किसी की रचना हो, उसके समय का आभास उसमें अवश्य रहेगा। इसी से ऋषियों के आश्रमों और विभीषण के दरवाजे पर गोस्वामीजी ने तुलसी का पौधा लगाया है और राम के मस्तक पर रामानंदी तिलक। राम वैदिक समय में थे। उनके समय में न तो रामानंदी तिलक की महिमा लोगों को मालूम हुई थी और न तुलसी की। राम के सिर पर जो चौगोशिया टोपी रखी है, उसका तो कोई ख्याल ही नहीं।

(२) भक्ति-संप्रदायवालों की इधर की कुछ भक्तमाली कथाओं पर गोस्वामीजी ने जो आस्था प्रकट की है, वह उनके गौरव के अनुकूल नहीं है। जैसे—

> आँधरो, अधम, जड़, जाजरो-जरा जवन,
>
> सूकर के सावक ढका ढकेल्यो मग में।
>
> गिर्‌यो हिय हहरि, "हराम हो, हराम हन्यो",
>
> हाय हाय करत परीगो काल-फँग में॥
>
> तुलसी बिसोक ह्वै त्रिलोक-पति-लोक गयो,
>
> नाम के प्रताप, बात बिदित है जग में।

(३) इसी नाम-प्रताप को राम के प्रताप से भी बड़ा कहने का (राम तें अधिक राम कर नामा) प्रभाव अच्छा नहीं पड़ा। सच्ची भक्ति से कोई मतलब नहीं, टीका लगाकर केवल 'राम राम' रटना बहुत से आलसी अपाहिजों का काम हो गया। एक धनाढ्य महंत

जिस गाँव में छापा डालते हैं, वहाँ के मजदूरों को बुलाकर उनसे दो-तीन घंटे राम राम रटाते हैं और जितनी मजदूरी उन्हें खेत में काम करने से मिलती, उतनी गाँववालों से वसूल करके दे देते हैं।

(४) दोहों में कहीं कहीं मात्राएँ कम होती हैं और सवैयों में भी कहीं कहीं वर्ण घटे-बढ़े हैं।

(५) अंगद और रावण का संवाद राजसभा के गौरव और सभ्यता के विरुद्ध है। पर इसका मतलब यह नहीं कि गोस्वामीजी राजन्य-वर्ग की शिष्टता का चित्रण नहीं कर सकते थे। राज-समाज के सभ्य भाषण का अत्यंत सुंदर नमूना उन्होंने चित्रकूट में एकत्र सभा के बीच दिखाया है। पर राक्षसों के बीच शिष्टता, सभ्यता आदि का उत्कर्ष वे दिखाना नहीं चाहते थे।

हिंदी-साहित्य में गोस्वामीजी का स्थान

जो कुछ लिखा जा चुका, उससे तुलसीदासजी की विशेषताएँ कुछ न कुछ अवश्य स्पष्ट हुई होंगी। काव्य के प्रत्येक क्षेत्र में हमने उन्हें उस स्थान पर देखा, जिस स्थान पर उस क्षेत्र का बड़े से बड़ा कवि है। मानव अंत:करण की सूक्ष्म से सूक्ष्म वृत्तियों तक हमने उनकी पहुँच देखी। बाह्य जगत् के नाना रूपों के प्रत्यक्षीकरण में भी हमने उन्हें तत्पर पाया। काव्य के बहिरंग-विधान की सुंदर प्रणाली का परिचय भी हमें मिला। अब उनकी सबसे बड़ी विशेषता की ओर एक बार फिर ध्यान आकर्षित करके यह वक्तव्य समाप्त किया जाता है।

यह सबसे बड़ी विशेषता है उनकी प्रबंध-पटुता जिसके बल से आज 'रामचरितमानस' हिंदी समझनेवाली हिंदू-जनता के जीवन का साथी हो रहा है। तुलसी की वाणी मनुष्य-जीवन की प्रत्येक दशा तक पहुँचनेवाली है; क्योंकि उसने रामचरित का आश्रय लिया है। रामचरित जीवन की सब दशाओं की समष्टि है, इसका प्रमाण "रामाज्ञा प्रश्न" है जिससे लोग हर एक प्रकार की आनेवाली दशा के संबंध में प्रश्न करते और उत्तर निकालते हैं। जीवन की इतनी दशाओं का पूर्ण मार्मिकता के साथ जो चित्रण कर सका, वही सबसे बड़ा भावुक और सबसे बड़ा कवि है. उसी का हृदय लोक-हृदय-स्वरूप है। शृंगार, वीर आदि कुछ गिने-गिनाए रसों के वर्णन में ही निपुण कवि का अधिकार मनुष्य की दो-एक वृत्तियों पर ही समझिए, पर ऐसे महाकवि का अधिकार मनुष्य की संपूर्ण भावात्मक सत्ता पर है।

अत: केशव, बिहारी आदि के साथ ऐसे कवि को मिलान के लिये रखना उसका अपमान करना है। केशव में हृदय का तो कहीं

पता ही नहीं। वह प्रबंध-पटुता भी उनमें नाम को नहीं जिससे कथानक का संबंध-निर्वाह होता है। उनकी रामचंद्रिका फुटकर पद्यों का संग्रह सी जान पड़ती है। वीरसिंहदेव-चरित में उन्होंने अपनी हृदय-हीनता की ही नहीं, प्रबंध-रचना की भी पूरी असफलता दिखा दी है। बिहारी रीति-ग्रंथों के सहारे जबरदस्ती जगह निकाल निकालकर दोहों के भीतर श्रृंगाररस के विभाव-अनुभाव और संचारी ही भरते रहे। केवल एक ही महात्मा और हैं जिनका नाम गोस्वामीजी के साथ लिया जा सकता है और लिया जाता है। वे हैं प्रेमस्रोत-स्वरूप भक्तवर सूरदासजी। जब तक हिंदी-साहित्य और हिंदी-भाषी हैं, तब तक सूर और तुलसी का जोड़ा अमर है। पर, जैसा कि दिखाया जा चुका है, भाव और भाषा दोनों के विचार से गोस्वामीजी का अधिकार अधिक विस्तृत है। न जाने किसने 'यमक' के लोभ से यह दोहा कह डाला कि "सूर सूर तुलसी ससी, उडुगन केशवदास"। यदि कोई पूछे कि जनता के हृदय पर सबसे अधिक विस्तृत अधिकार रखनेवाला हिंदी का सबसे बड़ा कवि कौन है तो उसका एक मात्र यही उत्तर ठीक हो सकता है कि भारत-हृदय, भारती-कंठ भक्त-चूड़ामणि **गोस्वामी तुलसीदास**।

———